भारतीय वास्तुकला का इतिहास



Bharatiya Vastukala ka itihas

by

Krishandutt Vajpai

Hindi Samiti, Lucknow,

1972

हिन्दी समिति ग्रन्थमाला संख्या—२१३

भारतीय वास्तुकला
का
इतिहास

लेखक
कृष्णदत्त वाजपेयी
टैगोर प्रोफेसर तथा अध्यक्ष,
प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति तथा पुरातत्त्व विभाग,
सागर विश्वविद्यालय
(मध्य प्रदेश)

हिन्दी समिति
हिन्दी भवन, महात्मा गाँधी मार्ग
लखनऊ

प्रथम संस्करण
१६७२

मूल्य ८·००
[आठ रुपये]

मुद्रक :
प्रेम प्रिंटिंग प्रेस
२५७-गोलागंज, लखनऊ

प्रकाशकीय

भारत के अमूर्त अतीत को मूर्त रूप देने वाला वास्तुशिल्प, इतिहास के विद्यार्थियों के साथ-साथ सभी शिल्प और कलानुरागियों के लिए निरन्तर आकर्षण का विषय रहा है।

मोहेनजोदड़ो और हड़प्पा के लगभग प्रागैतिहासिक काल से लेकर १३वीं शती के अन्त तक भारतीय वास्तुशिल्प के उत्कर्ष की परम्परा अविराम गति से चलती रही, एक वेदाङ्ग के रूप में इसकी प्रतिष्ठा हुई। इस विकास का एक रहस्य यह भी था कि वास्तुशिल्प का अधिष्ठाता स्थपति न केवल एक कुशल और निष्ठावान् शिल्पी किन्तु अनिवार्यतः शास्त्रज्ञ भी होता था। अपने ज्ञान, कौशल और निष्ठा के अनुरूप ही समाज में उसे सम्मानित स्थान प्राप्त था।

कला और सौन्दर्य के उपासक भारतीय जनमानस ने अपने स्थपतियों और शिल्पियों को निष्ठा और सौन्दर्य-बोध की जो धरोहर सौंपी उसे उन्होंने सहस्रगुणित कर लौटाया, इसकी साक्षी भारतवर्ष के कोने-कोने में बिखरी पड़ी अजन्ता, एलोरा, कोणार्क और खजुराहो जैसी जीवन्त कला-कृतियाँ हैं, जिनका निर्माण, शिल्पी की नैसर्गिक निष्ठा और अनन्य कलानुराग के अभाव में, मात्र अपनी विपुल शक्ति सम्पदा और वैभव के बल पर करा सकना बड़े से बड़े सम्राट् के लिए सम्भव नहीं था।

पत्थर ने आधार और राजवंशों ने औचित्य देकर जिस मूर्ति को आकार दिलाया शिल्पी की अनन्यता ने उसमें प्राणप्रतिष्ठा की। हृदय की अनन्य श्रद्धा और स्नेह से अनुप्राणित उसकी छेनी ने भारतीय पूजागृहों को सौन्दर्य और सौष्ठव से मण्डित कर वास्तुशिल्प को विकास के चरम शिखर पर पहुँचा दिया। भारतीय संस्कृति की सहज उदारता ने अन्य क्षेत्रों की तरह वास्तु शिल्प के क्षेत्र पर भी सुदूरव्यापी प्रभाव डाला। शताब्दियों तक देश-विदेश के कलाकार इससे प्रेरणा प्राप्त कर अपनी कला को प्राणवान् बनाते रहे।

प्रस्तुत पुस्तक में कंदराओं और पर्णशालाओं से लेकर विशाल देवालयों और महालयों एवं दुर्गों के विकास की कहानी ऐतिहासिक क्रमबद्धता के साथ प्रांजल और आकर्षक भाषा में प्रस्तुत की गयी है। पुस्तक अपेक्षाकृत संक्षिप्त होते हुए भी कोई महत्वपूर्ण विवरण छूटने नहीं पाया है। आशा है वास्तुशिल्प के विद्यार्थियों के साथ-साथ यह पुस्तक सुधीजनों को भी सन्तुष्ट करने में समर्थ होगी।

—लीलाधर शर्मा पर्वतीय

सचिव, हिन्दी समिति

प्राक्कथन

अन्य ललित कलाओं की तरह भारतीय वास्तु-कला का महत्वपूर्ण स्थान है। प्राचीन भारत में भवन-निर्माण को साधारण शिल्प से ऊपर माना गया। इमारतों में उपयोगिता के साथ-साथ कलात्मकता भी अपेक्षित समझी गयी। स्थापत्य या वास्तु के विविध अंगों का प्राचीन भारत में इतना अधिक विकास हुआ कि उसके सम्बन्ध में विस्तृत शास्त्रलेखन की आवश्यकता पड़ी। वास्तु पर अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना हुई। स्थापत्य की विविध तकनीकों तथा इमारतों के नाना रूपों के प्रचुर विवरण वैदिक ग्रन्थों से लेकर परवर्ती संस्कृत-प्राकृत ग्रन्थों में उपलब्ध है।

जहाँ तक वास्तु के क्रिया-पक्ष का सम्बन्ध है, यह मनोरंजक तथ्य है कि प्रारम्भिक हड़प्पा सभ्यता के युग से लेकर १८वीं शती तक भारत में धार्मिक तथा लौकिक वास्तु के बहुसंख्यक रूप निर्मित हुए। देश में तथा उसके बाहर स्थापत्य के जो अगणित उदाहरण सुरक्षित रह सके हैं वे इस बात के उद्घोषक हैं कि यहाँ वास्तु के क्षेत्र में अत्यधिक प्रगति हुई। यह कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण भारत असंख्य स्मारकों का एक विशाल संग्रहालय है। निस्संदेह विश्व की प्राचीन वास्तुकला के क्षेत्र में भारत का अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान है।

जब से हमारे विश्वविद्यालयों की उच्च कक्षाओं में प्राचीन भारतीय वास्तुकला का अध्ययन स्वतन्त्र रूप से आरम्भ हुआ तब से इस ओर विद्वानों का अधिक ध्यान गया है। इस विषय के अध्ययन-अध्यापन में जो सबसे बड़ी कठिनाई उपस्थित होती है वह है हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में उपयोगी पुस्तकों का अभाव। जो पुस्तकें अंग्रेजी में या अन्य विदेशी भाषाओं में उपलब्ध हैं वे प्रायः विदेशी विद्वानों की लिखी हुई हैं। इन विद्वानों ने बड़े परिश्रम के साथ भारत के विभिन्न युगों के स्मारकों के सचित्र विवरण प्रस्तुत किये हैं। अनेक प्राचीन इमारतें अब नष्ट हो गयी हैं या विक्षत अवस्था में हैं। यदि उक्त विद्वानों द्वारा तैयार किये गये उनके सचित्र विवरण हमें उपलब्ध न होते तो उनके सम्बन्ध में सम्यक् जानकारी प्राप्त करने में बड़ी कठिनाई होती। कनिंघम, फर्गुसन, बर्जेस, विन्सेन्ट स्मिथ, हैवेल, जॉन मार्शल, पर्सी ब्राउन, स्टेला क्रैमरिश आदि विद्वानों के हम आभारी हैं जिन्होंने भारतीय स्थापत्य का अध्ययन-विवेचन किया। किन्तु इन विद्वानों की कृतियों में दो विशेष कमियाँ दृष्टिगोचर होती हैं : पहली यह कि अधिकांश पाश्चात्य

विद्वानों ने प्राचीन वास्तु पर लिखते समय भारतीय साहित्य तथा परम्परा के प्रति उपेक्षा दिखायी है। प्राचीन भारतीय साहित्य में वास्तु-सम्बन्धी बहुमूल्य सामग्री उपलब्ध है, परन्तु उसका उपयोग उक्त तथा अन्य गण्यमान लेखकों ने बहुत कम किया है। कई लेखकों ने तो इस ओर बिलकुल ध्यान नहीं दिया। दूसरी बात पूर्वाग्रह की है, जिससे हैवेल-जैसे कतिपय विद्वानों को छोड़कर अधिकांश विदेशी लेखक अपने को मुक्त नहीं कर सके। भारतीय वास्तु के उद्भव और विकास में भी वे भारत के स्वतन्त्र चिन्तन को कोई महत्व न देकर उसमें विदेशी अनुकरण ही ढूंढ़ते हैं।

उक्त दोनों मुख्य कारणों से प्राचीन भारतीय स्थापत्य का सही रूप हमारे सामने उपस्थित न हो सका। प्रसन्नता की बात है कि पी० के० आचार्य, आनन्द कुमारस्वामी, वासुदेव शरण अग्रवाल, कृष्णदेव, के० आर० श्रीनिवासन्, के० वी० सौंदरराजन्, मधुसूदन ढाकी आदि के प्रयत्नों के फलस्वरूप भारतीय वास्तु का सही तथा सांगोपांग परिचय हमारे सामने आया है। इन विद्वानों ने निरपेक्ष वैज्ञानिक ढंग का अवलम्बन कर भारतीय वास्तु का अध्ययन यहाँ की समृद्ध साहित्यिक परम्परा की पृष्ठभूमि में करने का प्रयास किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में प्राचीनतम काल से लेकर १२वीं शती के अंत तक के भारतीय वास्तु का इतिहास दिया गया है। पुस्तक १० अध्यायों में विभाजित है। प्रथम अध्याय में भारतीय वास्तु की धार्मिक और लौकिक पृष्ठभूमि का निरूपण है। दूसरे अध्याय से लेकर नवें अध्याय तक कालक्रमानुसार भारतीय वास्तु का विवरण दिया गया है। प्राचीन भारत के इस लम्बे इतिहास में देश के विभिन्न क्षेत्रों में वास्तु की अनेक विधाओं को मूर्त रूप मिला। इनका सोदाहरण विवेचन इस ग्रन्थ में प्रस्तुत किया गया है। विषय को ठीक प्रकार से समझने के लिए वास्तु के विविध स्वरूपों के चित्र दिये गये हैं। भारतीय वास्तु का विदेशों में जो प्रसार हुआ उसका संक्षिप्त विवरण अन्तिम अध्याय में दे दिया गया है। विदेशों में भारतीय धर्मों के साथ स्थापत्य एवं मूर्तिकला के प्रसार की गौरवमय गाथा को विस्मृत नहीं किया जा सकता।

इस ग्रन्थ में आधारभूत साहित्यिक तथा पूर्व-ज्ञात पुरातत्त्वीय स्रोतों का आधार लिया गया है। इसके अतिरिक्त हाल में किये गये भारतीय पुरातत्त्वीय शोधों से प्राप्त सामग्री का भी यथावश्यक उपयोग किया गया है।

जिन विद्वानों के ग्रन्थों तथा लेखों से इस ग्रन्थ में सहायता ली गयी है उनके प्रति मैं आभारी हूँ। मेरे आदरणीय मित्र डा० वासुदेवशरण अग्रवाल भारतीय कला के मर्मज्ञ थे। उन्होंने प्राचीन स्थापत्य तथा मूर्तिकला के विषय में अनेक मौलिक उद्भावनाएँ कीं।

मूर्त अवशेषों को साहित्य के साथ देखने-परखने की उनमें अद्भुत क्षमता थी। इस ग्रन्थ के अध्याय ५, ६ तथा ७ में मैंने उनके अनेक विवरणों तथा निष्कर्षों का विशेष रूप से उपयोग किया है। अमेरिकन अकादमी, बनारस तथा उसके एक विद्वान् अधिकारी श्री मधुसूदन ढाकी के प्रति मैं अनुगृहीत हूँ, जिनसे मुझे स्थापत्य के विषय में अनेक उपयोगी सुझाव मिले। ग्रन्थ में उपयुक्त चित्रों के लिए मैं केन्द्रीय पुरातत्त्व विभाग का आभारी हूँ। हिन्दी समिति के कर्मठ सचिव श्री लीलाधर शर्मा 'पर्वतीय' को मैं विशेष धन्यवाद देता हूँ। वे इस पुस्तक को पूर्ण करने की प्रेरणा मुझे निरन्तर देते रहे। ग्रन्थ के मुद्रण-कार्य में सक्रिय सहयोग देने के लिए श्री अनन्तप्रसाद विद्यार्थी का मैं अत्यन्त आभारी हूँ। श्री कृष्णकुमार त्रिपाठी ने पुस्तक का टंकन-कार्य बड़े श्रम से पूरा किया। चित्रकार श्री कोठारी ने अपने संग्रह से मुझे स्थापत्य-सम्बन्धी कई चित्र दिये। इन दोनों के प्रति भी मैं आभार व्यक्त करता हूँ।

—कृष्णदत्त वाजपेयी

विषय सूची

अध्याय १

धार्मिक तथा लौकिक पृष्ठभूमि

स्थापत्य या वास्तु को एक ललित कला माना गया है। चित्रकला, मूर्तिकला, साहित्य तथा नाट्य अन्य मुख्य ललित कलाएँ हैं। भारतीय परम्परा में वास्तु को वेदांग से समुद्भूत कहा गया है। इसका विशेष सम्बन्ध ज्योतिष तथा कल्प के साथ जोड़ा गया है। स्थापत्य को कुछ लेखकों ने चार उपवेदों में से एक स्वीकार किया है।

स्थापत्य भवन-निर्माण कला है। प्रागैतिहासिक युग से मानव को जीवन-रक्षा के लिए किसी आश्रय की आवश्यकता रही। आरम्भ में तरुमूल, उनकी शाखाएँ अथवा पर्वतों की कन्दराएँ आदिम जन के आश्रय बने। इनमें पहाड़ की गुफाएँ (शिलाश्रय) अधिक सुविधाजनक थीं। अधिकांश गुफाएँ प्राकृतिक थीं। कालान्तर में मानव द्वारा पहाड़ को काट-छाँटकर निवास के लिए गुफाएँ बनायी जाने लगीं। शिलाश्रयों में रहने वाले लोग कभी-कभी गुफाओं की भीतरी छतों और दीवारों पर अनेक ढंग की रोचक चित्र-रचना करते थे। उनके द्वारा बनाये गये चित्र भारत में सबसे अधिक मध्य प्रदेश में प्राप्त हुए हैं। मंदसौर, नरसिंहगढ़, सीहोर, रायसेन, होशंगाबाद, सागर, पन्ना, रीवां, अम्बिकापुर तथा रायगढ़ जिलों के अनेक स्थानों में इन आदिम जनों के निवास के अवशेष मिले हैं। इनमें पत्थर के अनेक प्रकार के औजार तथा मिट्टी के बर्तन भी हैं। उन लोगों के बनाये हुए चित्रों में से बहुत से आज भी उनके द्वारा सैकड़ों वर्ष पूर्व आवासित गुफाओं में सुरक्षित हैं। उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर तथा बाँदा जिलों के कई पर्वतीय स्थानों में भी ऐसे अनेक गुफा-चित्र मिले हैं।

अधिकांश गुफा-चित्रों में लाल, सफेद, काला, नीला या पीला रंग प्रयोग में लाया गया। कई जगह भित्तियों पर पहले लाल या सफेद रंग की पृष्ठभूमि देकर उस पर चित्र उरेहे गये। प्राचीन गुफा-चित्रों से वहाँ निवास करने वाले लोगों की जीवन-चर्या तथा रुचि का पता चलता है। मुख्यतया जो दृश्य इन चित्रों में मिलते हैं, वे हैं—विविध आयुधों से पशु-पक्षियों का शिकार, जानवरों की लड़ाई, मानवों में पारस्परिक युद्ध, पशुओं पर सवारी, गीत, नृत्य, पूजन, मधु-संचय तथा घरेलू जीवन-सम्बन्धी अनेक दृश्य। लोगों

के जीवन-निर्वाह का मुख्य साधन शिकार था। अतः शिकार के विविध दृश्य मिलते हैं।

मानव-सभ्यता के विकास के साथ निवास में भी परिवर्तन आया। आखेट के स्थान पर कृषि तथा पशु-पालन जीविका के मुख्य साधन बने। शिलाश्रयों को छोड़कर मानव समतल भूमि पर आ बसा। अपने रहने के लिए उसने पत्थर, मिट्टी और लकड़ी के माध्यम से घर बनाये। संघटित जीवन की परम्परा प्रारम्भ हुई, जिसने गाँवों, पुरों और नगरों को जन्म दिया। गृह-निर्माण विकसित सभ्यता का एक प्रमुख अंग बन गया। ग्राम तथा नगर-सन्निवेश के विविध अंग-उपांग अस्तित्व में आने लगे और भवन-निर्माण में भू-चयन, मापन, संस्कार आदि तत्त्व विकसित हुए।

धीरे-धीरे आश्रय या निवास के अतिरिक्त पूजा-अर्चा के लिए भी भवनों की आवश्यकता पड़ी। हड़प्पा-संस्कृति में, जिसे आर्यों-अनार्यों या देवों-असुरों की संश्लिष्ट संस्कृति कहना युक्तिसंगत होगा, धार्मिकता के आरम्भिक तत्त्व मिलने लगते हैं।

ऋग्वेद प्रथम ग्रन्थ है जिसमें अर्चा-वास्तु (यज्ञशाला, वेदी आदि) तथा लौकिक वास्तु (गृह, पुर आदि का निर्माण) वर्णित है। कुछ पाश्चात्य विद्वानों का यह विचार युक्तिसंगत नहीं है कि वैदिक साहित्य में स्थापत्य-विषयक विश्वसनीय जानकारी नहीं मिलती। वास्तव में ऋग्वेद तथा परवर्ती वैदिक साहित्य में प्रभूत सामग्री उपलब्ध है जिससे उक्त दोनों प्रकार के स्थापत्य पर रोचक प्रकाश पड़ता है। साधारण घरों तथा बड़े भवनों के अतिरिक्त इस साहित्य में त्रिभूमिक प्रासाद, सहस्र स्तम्भ एवं सहस्र द्वारों वाले सभाकक्ष आदि का उल्लेख मिलता है। नगर-सन्निवेश का विवरण भी वैदिक साहित्य में उपलब्ध है।

सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय को देखने से ज्ञात होता है कि भारतीय कला जहाँ एक ओर धार्मिक संस्कारों से अनुप्राणित है वहाँ दूसरी ओर सौन्दर्य तथा आनन्द के तत्त्वों से पूर्ण है। कलाकारों ने भारतीय शिल्प के विभिन्न अंगों को कल्पना द्वारा वास्तव से मण्डित किया।

धार्मिक वास्तु

वैदिक स्थापत्य के विविध तत्त्वों को हम परवर्ती भारतीय वास्तु में उपबृंहित पाते हैं। इनमें विषय-वस्तु के अतिरिक्त अनेक प्रतीक एवं अलंकरण की विधाएँ सम्मिलित हैं। वैदिक साहित्य में भक्ति या उपासना का जो मूल बीज निहित था उसका पल्लवन परवर्ती भारतीय साहित्य और कला में मिलता है। आगमों-पुराणों की उपासना-पद्धति ने विष्णु, सूर्य, शिव आदि देवों की अर्चा-पूजा को बल दिया। इससे मूर्तियों तथा मन्दिरों का बड़े रूप में निर्माण होने लगा। मन्दिर धार्मिक वास्तु के मुख्य प्रतीक बन गये।

भारतीय मन्दिर-वास्तु का इतिहास अत्यन्त रोचक है। इस देश में मन्दिरों के निर्माण-सम्बन्धी विविध उल्लेख प्राचीन साहित्य में उपलब्ध हैं। पुरातत्त्वीय अवशेषों में मन्दिरों के स्वरूप प्राचीन मूर्तियों, सिक्कों, मुद्राओं आदि में देखने को मिलते हैं। इन स्वरूपों को देखने से ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में मन्दिर या देवायतन सीधे-सादे रूप में बनाये जाते थे। प्रकृत भूमि से कुछ ऊँचे स्थान पर प्रतिमा स्थापित की जाती थी। उसके चारों ओर वेदिका या बाड़े का निर्माण होता था। बाद में वेदिका को ऊपर से भी आच्छादित कर देते थे। प्राचीन आहत सिक्कों तथा औदुम्बरों, पंचालों आदि की मुद्राओं में मन्दिर का यही सादा रूप देखने को मिलता है। मथुरा, विदिशा, मध्यमिका आदि अनेक प्राचीन नगरों में संकर्षण, वासुदेव आदि के देवमन्दिरों का यही रूप था। जैन तीर्थंकरों, यक्षों तथा नागों के लिए भी प्रारम्भिक मन्दिरों का जो निर्माण हुआ उनका स्वरूप उक्त मन्दिरों जैसा था।

प्रारम्भिक मन्दिरों के आकार-प्रकार हेतु मानव-शरीर, वृक्ष तथा पर्वत-शिखर प्रेरणा-स्रोत रहे। आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक दृष्टि से मन्दिरों के मूल रूप में इन स्रोतों का निरूपण प्राचीन भारतीय परम्परा में मिलता है। शरीरधारी सगुणात्मक देवता के लिए मानव रूप से प्रेरणा ग्रहण करना स्वाभाविक था। पवित्रता के प्रतिनिधि-रूप में कतिपय वृक्षों तथा पर्वत-शिखरों को भी मन्दिर-निर्माण के प्रतीकात्मक रूप में ग्रहण किया गया।

कालान्तर में कलात्मक रुचि में अभिवृद्धि के साथ-साथ मन्दिर-वास्तु का स्वरूप भी सर्वाद्धित होता गया। मूर्ति-स्थापना के स्थल पर गर्भगृह को परिवेष्टित करने के अतिरिक्त उसके बाहर चारों ओर प्रदक्षिणा-पथ की उद्भावना हुई। गर्भगृह के बाहर आच्छादित प्रवेश-द्वार या मुख-मण्डप का निर्माण हुआ। गुप्तकाल तक मन्दिर-वास्तु के व्यापक शास्त्र का निर्माण हो गया। उसके आधार पर मन्दिर के विभिन्न अंग-उपांग निर्धारित हुए। धीरे-धीरे गर्भगृह के ऊपर शिखर तथा बाहर मण्डप, अर्द्धमण्डप, महा-मण्डप आदि का विधान हुआ। मन्दिर-वास्तु को शास्त्र के आधार पर अत्यन्त विकसित रूप प्रदान किया गया। ईसवी छठी शती से लेकर मुगलकाल तक भारत के विभिन्न भागों में विविध धर्मों से सम्बन्धित मन्दिरों की रचना हुई। समय तथा स्थान के आधार पर इन मन्दिरों की शैलियों में भेद-प्रभेद होने स्वाभाविक थे।

मन्दिर-निर्माण के उद्भव में धार्मिक कारण प्रधान था। इसके मूल में प्रतिमा-पूजन था। इष्ट देवों, मृत राजाओं तथा प्रिय कुटुम्बियों की मूर्तियाँ सुरक्षित रखने के लिए मन्दिरों की रचना की गयी। मन्दिरों में लोग अपने इष्ट या प्रेमी के प्रति एकान्त

में श्रद्धा-सुमन चढ़ा सकते थे। अकेले या सामूहिक रूप में प्रार्थना करने के लिए खुले स्थान की अपेक्षा आवेष्टित या परिवृत स्थान अधिक उपयुक्त था।

ऋग्वेद में प्रतिमा-सम्बन्धी कुछ उल्लेख मिलते हैं, परन्तु उनके आधार पर प्रारम्भिक वैदिक आर्यों में प्रतिमा-पूजन का प्रचलन नहीं सिद्ध होता। पूर्ववैदिक काल में देव-मन्दिरों के स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलते। उत्तरवैदिक तथा उपनिषद्-काल में प्रतिमाओं के उल्लेख मिलते हैं। ई० पूर्व चौथी शती से मन्दिरों का निर्माण मिलने लगता है।

बौद्धों के स्तूप गौतम बुद्ध के बाद बनने लगे। प्रतीत होता है कि जैन-स्तूपों का निर्माण बौद्ध स्तूपों से पहले प्रारम्भ हुआ। मौर्य सम्राट् अशोक (२७२-२३२ ई० पू०) ने बड़ी संख्या में देश भर में बौद्ध स्तूप बनवाये। उसके बाद स्तूप-निर्माण की परम्परा बहुत बढ़ी। भरहुत, साँची, अमरावती, सारनाथ, तक्षशिला आदि के प्राचीन स्तूप उल्लेखनीय हैं। गुप्त-काल तथा मध्य-युग में भारत के विभिन्न भागों में बड़ी संख्या में जैन और बौद्ध स्तूपों तथा विहारों का निर्माण हुआ।

मन्दिर-निर्माण करते समय पहली बात यह आती थी कि किस प्रकार की भूमि पर देवालय की रचना की जाए। गृह्यसूत्रों में इसे 'भूपरीक्षा' कहा गया है। इन ग्रन्थों तथा बाद के पौराणिक एवं वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में कहा गया है कि मन्दिर के लिए उत्तम स्थान प्रायः समुद्र-तट, सरिता-तट, सुन्दर उपवन तथा पर्वतीय प्रदेश हैं। ये स्थान मनोहर तथा पवित्र होने के साथ-साथ शान्त वातावरण वाले होते थे। अतः वे मन्दिर-रचना के लिए विशेष उपयुक्त होते थे। नगरों, ग्रामों तथा अन्य साधारण स्थानों में यदि देवालय बनाना आवश्यक होता था तो अपेक्षित भूमि को यज्ञादि द्वारा शुद्ध करके तब उस पर मन्दिर-रचना की जाती थी।

मन्दिर-निर्माण के लिए आवश्यक सामग्री तथा निर्माता कारीगरों के भी वर्णन 'मानसार', 'शिल्परत्न', 'काश्यप शिल्प' आदि वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थों में मिलते हैं। मन्दिर देवताओं के निवास-स्थान होते थे, अतः सर्व-साधारण लोगों के निवास-गृहों की अपेक्षा देवालयों के सौंदर्य तथा उनकी दृढ़ता पर अधिक ध्यान देना आवश्यक समझा जाता था, जिससे वे चिरस्थायी रहें। मन्दिर में दृढ़ पत्थरों या ईंटों का प्रयोग वांछनीय समझा जाता था। कभी-कभी छोटे मन्दिरों को ताँबे, चाँदी या सोने से निर्मित किया जाता था। बड़े मन्दिरों को भी चाँदी या सोने की चद्दरों से मढ़ा जाता था। मध्यकाल में उत्तर भारत के प्रसिद्ध मन्दिर, गुजरात में सोमनाथ आदि के मन्दिर तथा दक्षिण के अनेक मन्दिर ऐसे ही थे। प्राचीन भारत में मन्दिरों की दो मुख्य शैलियाँ—नागर तथा द्राविड़—मिलती हैं। पहली का सम्बन्ध उत्तर तथा दूसरी का दक्षिण भारत से था। इन दोनों

शैलियों के कतिपय तत्त्वों के मिश्रण से एक तीसरी शैली वेसर (द्व्यश्र) का उदय हुआ। दोनों मुख्य शैलियों पर आश्रित होने के कारण उसका यह नाम सार्थक हुआ।

नागर शैली के मुख्य आचार्य शंभु, गर्ग, अत्रि, वसिष्ठ, पराशर, बृहद्रथ, विश्वकर्मा तथा वासुदेव कहे गये हैं। दक्षिणी परम्परा वाली द्राविड़ शैली का आचार्य ब्रह्मा, त्वष्टा, मय, मातंग, भृगु, काश्यप आदि को कहा गया है।[1] इनमें से अनेक आचार्य विभिन्न शास्त्रों के लेखक कहे गये हैं।

वास्तुशास्त्र के उद्भावकों में विश्वकर्मा तथा मय के नाम अधिक प्रसिद्ध थे। विश्वकर्मा को देवों का स्थपति या देव-वास्तु-प्रवर्तक माना गया। मय असुर-वास्तु-प्रवर्तक के रूप में प्रसिद्ध हुए। ऐसा प्रतीत होता है कि सुमेरु तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशों में बसे हुए सुरों तथा असुरों में अन्य बातों के साथ स्थापत्य के विषय में भी कतिपय भिन्न धारणाएँ स्थापित हो गयी थीं। ये विचार उनके द्वारा उन देशों में भी ले जाये गये जहाँ वे कालान्तर में पहुँचे। भारत में स्थापत्य-विषयक दोनों धारणाएँ साथ-साथ विकसित होती रहीं। धीरे-धीरे उनके अनेक तत्त्व एक-दूसरे में घुल-मिल गये। परन्तु कतिपय मौलिक भेद बहुत समय बाद तक विद्यमान रहे। स्थानीय विशेषताओं का भी उनमें थोड़ा-बहुत योग होता रहा।

वास्तुशास्त्र-विषयक ग्रन्थों की सूची विस्तृत है। शास्त्रीय ग्रन्थों के अतिरिक्त वैदिक साहित्य, रामायण, महाभारत, अष्टाध्यायी, अर्थशास्त्र, जैन तथा बौद्ध ग्रन्थ, आगम, तंत्र, पुराण एवं बृहत्संहिता आदि ग्रन्थों में वास्तु-विषयक प्रभूत सामग्री उपलब्ध है।

उत्तरी परम्परा के मुख्य वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थ 'सूत्रधारमंडन', 'विश्वकर्मप्रकाश', 'समरांगणसूत्रधार', 'वास्तुरत्नावली' आदि हैं। दक्षिणी वास्तु-परम्परा के ग्रन्थों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

'विश्वकर्मीय शिल्प', 'मयमत', 'मानसार', 'काश्यप शिल्प', 'अगस्त्य सकलाधिकार', 'शिल्प संग्रह', 'शिल्परत्न' तथा 'चित्रलक्षण'।

इन मुख्य ग्रंथों के अतिरिक्त वास्तुशास्त्र पर अन्य कितने ही ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। उनमें से अनेक आज उपलब्ध हैं। कितने ही ग्रन्थों के नामोल्लेख मात्र मिलते हैं। वास्तुविषयक इस विशाल साहित्य को तथा नष्ट होने से बच गये स्मारकों एवं प्राचीन मूर्तिकला आदि में सुरक्षित वास्तु-आकृतियों को देखने से पता चलता है कि स्थापत्य-तकनीक का कितना अधिक विकास प्राचीन भारत में हुआ था।

१. द्रष्टव्य द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल, भारतीय वास्तुशास्त्र, पृ० १६-२०।

स्थपति की योग्यता

स्थपति या भवन-निर्माता का व्यवसाय समाज में सम्मानित माना जाता था। जीवन को व्यवस्थित एवं कलात्मक बनाने में उसका बड़ा योग था। उत्तम निवास-गृह सुख-समृद्धि का वाहक माना जाता था। स्थपति अपनी कुशलता से भवन को ऐसा रूप देता कि उसमें निवास करने वालों को आनन्द और शान्ति मिले। वास्तु के अनेक शास्त्रों में स्थपति के गुणों का कथन किया गया है। मालवा के प्रसिद्ध शासक भोज परमार ने ग्यारहवीं शती के आरम्भ में लिखित अपने ग्रन्थ 'समरांगणसूत्रधार' में स्थपति की योग्यता बताते हुए लिखा है कि स्थपति को शास्त्र का ज्ञाता तथा व्यावहारिक कर्म में कुशल होना चाहिए। उसे प्रज्ञावान् तथा शीलवान् होना आवश्यक है। लक्षणों के सहित वास्तु विषय का सम्यक् ज्ञान उसके लिए अपेक्षित है।[1] इसके बाद लिखा है कि स्थपति को सामुद्रिक, गणित, ज्योतिष, छन्द आदि का भी ज्ञान होना चाहिए।

'समरांगणसूत्रधार' में भवन-निर्माण के क्रिया-पक्ष पर विशेष बल दिया गया है और लिखा है कि जो स्थपति शास्त्र का ज्ञान तो रखता है पर उसे क्रिया-रूप में परिणत करना नहीं जानता वह क्रिया के समय उसी प्रकार असफल हो जाता है जिस प्रकार भीरु व्यक्ति सामने लड़ाई आ जाने पर एकदम घबड़ा जाता है।[2]

इसी प्रकार वास्तु-शास्त्र से अपरिचित, केवल क्रिया-पक्ष को जानने वाले शिल्पी को भी अपूर्ण ज्ञाता कहा गया है। इस ग्रन्थ में शिल्पियों में स्थपति की महत्ता प्रतिपादित की गयी है। 'मानसार', 'मयमत' आदि ग्रन्थों से भी स्थपति की विद्वत्ता तथा उसकी उच्च सामाजिक स्थिति पर प्रकाश पड़ता है।[3]

लौकिक वास्तु

धार्मिक पक्ष के अतिरिक्त भारतीय स्थापत्य का दूसरा महत्वपूर्ण पक्ष लौकिक है। प्राचीन साहित्य तथा पुरातत्त्वीय अवशेषों से इसकी पुष्टि होती है। ग्रामों और पुरों

१. "शास्त्रं कर्म तथा प्रज्ञाशीलं च क्रियान्वितम् ।
लक्ष्यलक्षणयुक्तार्थशास्त्रनिष्ठो नरो भवेत् ॥"
—समरां०, ४४,२ ।

२. "यस्तु केवलशास्त्रज्ञः कर्मस्वपरिनिष्ठितः ।
स मुह्यति क्रियाकाले दृष्ट्वा भीरुरिवाहवम् ॥"
—वही, ४४, ८ ।

३. द्र० विनोद बिहारी दत्त, टाउन प्लानिंग इन ऐंश्यंट इंडिया, पृ० १३-१४ ।

का सन्निवेश तथा विभिन्न प्रकार के भवनों, सड़कों, दुर्गों आदि के निर्माण लौकिक स्थापत्य के अन्तर्गत थे।

'रामायण', 'महाभारत', बौद्ध और जैन साहित्य में तथा 'मानसार', 'मयमत', 'समरांगणसूत्रधार' आदि ग्रन्थों में नगर या पुर-निर्माण के विस्तृत विवरण मिलते हैं। नगर सन्निवेश के जिन मुख्य अंगों की साहित्य में चर्चा मिलती है वे हैं—(१) भू-परीक्षा, (२) भूमि-संग्रह (जमीन का चुनाव), (३) दिक्परिच्छेद (दिशा-निर्धारण), (४) पदविन्यास (सारी भूमि का वर्गाकार खण्डों में विभाजन), (५) बलिकर्म-विधान (पूजन), (६) ग्राम या नगर-विन्यास (गांव या नगर-बस्ती की सम्यक् योजना), (७) भूमि-विधान (विभिन्न तल वाली इमारतें), (८) गोपुर-विधान (द्वार-निर्माण), (९) मण्डप-विधान (मन्दिर-निर्माण), तथा (१०) राजवेश्म-विधान (राजकीय प्रासाद या महल का निर्माण)।[1]

नगर-सन्निवेश—सुनियोजित नगर बसाने का ज्ञान भारत में हड़प्पा-संस्कृति-युग से मिलने लगता है। उत्तरवैदिक काल में नगरों की संख्या में वृद्धि होती गयी। राजनीतिक, व्यापारिक एवं धार्मिक कारणों से विभिन्न नगरों के बीच आवागमन की सुविधाएँ बढ़ीं और बड़ी सड़कों का निर्माण हुआ। समृद्ध प्राचीन नगरों में पुष्कलावती, पुरुषपुर, तक्षशिला, शाकल, इंद्रप्रस्थ, हस्तिनापुर, अहिच्छत्रा, कांपिल्य, कान्यकुब्ज, मथुरा, अयोध्या, वाराणसी, श्रावस्ती, वैशाली, पाटलिपुत्र, राजगृह, चंपा, ताम्रलिप्ति, प्रयाग, कौशाम्बी, विदिशा, उज्जयिनी, दशपुर, भृगुकच्छ, वलभी, प्रतिष्ठान, कांची, कावेरीपट्टनम्, उरगपुर आदि उल्लेखनीय हैं।

इनमें से अनेक नगरों के विस्तार का वर्णन मिलता है। यूनानी लेखक मेगस्थनीज के अनुसार पाटलिपुत्र नगर लगभग साढ़े नौ मील लम्बा तथा पौने दो मील चौड़ा था। चीनी यात्री हुएन-सांग ने कान्यकुब्ज (कन्नौज) की लम्बाई तीन मील तथा चौड़ाई एक मील लिखी है। उसने भृगुकच्छ नगर की परिधि चार मील तथा वलभी की छह मील बतायी है।

सुरक्षा की दृष्टि से नगर के चारों ओर खाई (परिखा) खोदी जाती थी, जिसमें प्रायः नदी का जल भरा रहता था। मेगस्थनीज ने पाटलिपुत्र की परिखा को ६०० फुट चौड़ी बताया है। परिखा को आकर्षक बनाने के लिए उसके जल में रंग-बिरंगे फूल लगाये जाते थे। कुछ नगरों में एक से अधिक परिखाएँ होती थीं। नगर-रक्षा के लिए

१. दत्त, वही, पृ० १५-१६।

दूसरा विशाल नगर के चारों ओर दीवार (प्राकार) का था। प्राकार पत्थर, ईंट या कच्ची मिट्टी की बनायी जाती थी। कभी-कभी मिट्टी की चौड़ी दीवार के ऊपर पत्थर या पकी ईंटों की चुनाई की जाती थी। प्राकारों पर थोड़ी-थोड़ी दूर पर बुर्ज (अट्टालक) बनाये जाते थे। इन अट्टालकों पर सैनिक नियुक्त रहते थे। नगर में प्रवेश के लिए कई मुख्य तथा गौण द्वार बनाये जाते थे। इन द्वारों पर भी रक्षक तैनात रहते थे। वे नगर में प्रवेश करने वालों तथा बाहर जाने वालों पर निगरानी रखते थे। प्रमुख द्वारों के नाम प्रायः देवताओं के नाम पर या उन नगरों के नाम पर रखे जाते थे जिनकी ओर उन द्वारों से होकर मार्ग जाते थे।

नगर के भीतर मार्गों की उचित व्यवस्था होती थी। मुख्य मार्ग एक-दूसरे को समकोण पर काटते थे। उनके द्वारा विभाजित क्षेत्रों में विशेष वर्गों के लोग बसाये जाते थे। राजप्रासाद नगर के प्रमुख स्थान पर बनाया जाता था। तदनुसार भवनों आदि का निर्माण किया जाता था। पक्की सड़कों (कुट्टिममार्ग) में पत्थर, ईंट और कंकड़ का प्रयोग किया जाता था। नालियों की ठीक व्यवस्था नगर-योजना का महत्वपूर्ण अंग थी। हड़प्पा, मोहेनजोदड़ो, लोथल, कौशाम्बी, त्रिपुरी आदि प्राचीन नगरों की खुदाइयों से इसकी पुष्टि हुई है।

राजमहल तथा बड़े भवनों में ही नहीं, सर्वसाधारण के मकानों में भी वायु तथा प्रकाश के आने का ध्यान रखा जाता था। इस हेतु द्वारों, गवाक्षों आदि की उचित व्यवस्था की जाती थी। कूड़ा-करकट इकट्ठा करने तथा जल के निर्गमन की सुविधा प्रायः प्रत्येक घर में होती थी। गृहस्थी के विभिन्न कार्य सुगमता से हो सकें, इसके लिए घरों में कक्षों की तदनुकूल व्यवस्था की जाती थी। भवनों की दीवारों पर सफेद सुधा-लेप लगाने के उल्लेख प्राचीन साहित्य में मिलते हैं। इससे वे धवलित दिखायी देते थे। दीवालों की जुड़ाई में मिट्टी के गारे तथा विशेष प्रकार से बनाये गये चूने का प्रयोग होता था।

नगरों में सार्वजनिक उपयोग के लिए मन्दिर, स्तूप, जलाशय, उद्यान, विद्यालय, सभाभवन, बाजार, आरोग्यशाला आदि भव्यस्थान बनाये जाते थे। भारत का प्राचीन नागरिक जीवन समृद्ध और उन्नत हो सका, इसका एक मुख्य कारण नगर में आवश्यक सुविधाओं की व्यवस्था थी।[1]

१. इस सम्बन्ध में विस्तार के लिए देखिए उदयनारायण राय, प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, (विशेषतः) अध्याय २, ६ तथा १०।

दुर्ग—नगर-सन्निवेश में दुर्ग का वर्णन वास्तु-शास्त्र तथा अन्य ग्रन्थों में मिलता है। भोज ने 'युक्तिकल्पतरु' नामक ग्रन्थ में दुर्ग के दो मुख्य भेद १—अकृत्रिम तथा २—कृत्रिम कहे हैं। अकृत्रिम दुर्ग वह था जो अपनी प्राकृतिक स्थिति के कारण शत्रु-सैन्य की पहुँच के बाहर होता था। इस प्रकार के प्राकृतिक रक्षा-साधन मरुस्थल, गहरी नदी, घने जंगल, पर्वत आदि थे। जहाँ इन साधनों का अभाव होता वहाँ कृत्रिम दुर्गों के निर्माण की व्यवस्था होती थी। उन्हें परिखा तथा प्राकार द्वारा सुरक्षित बनाया जाता था। 'मानसार' ग्रन्थ में दुर्ग-विभाजन विस्तार से वर्णित है। दुर्गों को आठ मुख्य भागों में बाँटा गया है—(१) शिबिर, (२) वाहिनीमुख, (३) स्थानीय, (४) द्रोणक, (५) संविद्ध (या वर्द्धक), (६) कोलक, (७) निगम तथा (८) स्कन्धावार। परन्तु इसी ग्रन्थ में दुर्ग का दूसरा विभाजन मिलता है, जो दुर्गों की स्थिति के अनुसार बताया गया है। पहला गिरि-दुर्ग, दूसरा वनदुर्ग, तीसरा जलदुर्ग, चौथा ऐरिण (मरुस्थलों) दुर्ग, पाँचवाँ देवदुर्ग, छठा पंकदुर्ग, तथा सातवाँ मिश्रदुर्ग कहा गया है। इनमें से प्रथम चार तथा छठा क्रमशः पर्वत, वन, जल, मरुस्थल तथा कीच—इन प्राकृतिक सुरक्षा-साधनों से युक्त होते थे। पाँचवाँ देवदुर्ग[1] सम्भवतः इसलिए कहलाता था कि प्राकृतिक रूप से सुरक्षित होने के अतिरिक्त यह देवताओं का निवास-स्थल माना जाता था। उसकी दीवारों पर इन्द्र, वासुदेव, कुबेर, शिव आदि की मूर्तियाँ बनी रहती थीं। सातवें 'मिश्र दुर्ग' के निर्माण में उक्त सुरक्षा-साधनों में से अनेक का उपयोग किया जाता था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र, रामायण, पुराणादि साहित्य में भी दुर्गों के विवरण प्राप्त होते हैं। मौर्यकाल से लेकर पूर्व मध्यकाल तक दुर्ग-रचना की ओर विशेष ध्यान दिया जाता रहा। उत्तर-मध्यकाल में भी दुर्गों का महत्व बहुत रहा।[2]

प्राचीन कलाकृतियों में अनेक नगरों के चित्रण उपलब्ध हैं, जिनसे प्राचीन नागर-वास्तु पर प्रकाश पड़ता है। भरहुत, साँची, मथुरा, अमरावती, भाजा, कार्ले, बेडसा, कोंडाने, अजन्ता आदि की अनेक कलाकृतियों पर नगरों के विभिन्न भागों के अंकन मिलते हैं। उदाहरणार्थ, साँची के तोरणों पर कपिलवस्तु, कुशीनगर, श्रावस्ती, जेतुत्तर आदि नगरों के चित्र उपलब्ध हैं। भरहुत, मथुरा, अमरावती आदि की कला में प्राकार, परिखा, प्रासाद, वातायन आदि के विभिन्न भाग प्रदर्शित हैं। अनेक कृतियों पर प्राचीन पर्णशालाओं के रोचक दृश्य अंकित हैं। अनेक भारतीय मुद्राओं तथा जनपदीय सिक्कों पर मन्दिरों के जो चित्रण मिलते हैं वे इन पर्णशालाओं से बहुत मिलते-जुलते हैं। इससे ज्ञात होता है कि प्राचीन मन्दिर का स्वरूप इन पर्णशालाओं से उद्भावित हुआ।

१. 'शिल्परत्न' में इसे 'दिव्य दुर्ग' कहा गया है।
२. दे० दत्त, वही, पृ० ७२-१०८; द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल, वही, पृष्ठ १२१-१३१।

अध्याय २

हड़प्पा-सभ्यता युग

१९२१-२२ में सिन्धु घाटी के दो महत्वपूर्ण स्थानों की खोज से भारतीय सभ्यता की प्राचीनता पर नया प्रकाश पड़ा। पहला स्थान पश्चिमी पंजाब के मांटगुमरी जिले में स्थित हड़प्पा था, जो रावी नदी की पुरानी धारा के तट पर बसा था। दूसरा नगर सिन्ध प्रान्त के लरकाना जिले का मोहेनजोदड़ो था। इन दोनों स्थानों के उत्खननों से पता चला कि यहां ईसा से लगभग तीन सहस्र वर्ष पूर्व व्यवस्थित नगरों का निर्माण हो चुका था और एक विकसित सभ्यता यहां अस्तित्व में आ गयी थी। यह भी ज्ञात हुआ कि पश्चिमी एशिया के साथ भारत के सम्बन्ध ई० पूर्व तीसरी सहस्राब्दी में स्थापित हो चुके थे।

हड़प्पा और मोहेनजोदड़ो के अतिरिक्त धीरे-धीरे चन्हुदड़ो, झाकुरदड़ो आदि अनेक स्थानों में इस प्राचीन सभ्यता के अवशेष मिले। हड़प्पा नगर इस सभ्यता का केन्द्र था और इस सभ्यता के अधिकांश स्थान सिन्धु नदी की उपत्यका में मिले थे; अतः इस सभ्यता को 'सिन्धु-घाटी-(या सैंधव) सभ्यता' कहा गया। कतिपय विद्वानों ने इसे 'हड़प्पा-संस्कृति' कहना अधिक उपयुक्त समझा। कुछ समय बाद इस सभ्यता के महत्वपूर्ण अवशेष राजस्थान में प्राचीन सरस्वती-दृषद्वती नदियों के काँठे में उपलब्ध हुए। फिर गुजरात-काठियावाड़ में रंगपुर, लोथल आदि स्थानों का पता चला, जहाँ हड़प्पा-सभ्यता फूली-फली थी। पूर्व में उत्तर प्रदेश के मेरठ जिले में आलमगीरपुर नामक स्थान तक इस सभ्यता का विस्तार ज्ञात हुआ। इस विस्तृत क्षेत्र में फैली हुई सभ्यता अपनी स्थानीय कतिपय विशेषताओं के बावजूद समान तत्वों वाली थी। भौतिक जीवन के एक-जैसे उपकरण इन विभिन्न क्षेत्रों में प्रयुक्त होते थे। आर्थिक व्यवस्था एक-जैसी थी। एक लिपि का प्रयोग होता था तथा धार्मिक मान्यताओं में भी प्रायः एकरूपता थी। सम्भवतः राज-नीतिक प्रशासन भी इस विस्तृत क्षेत्र में एक ही प्रकार का था।

नये अन्वेषणों के फलस्वरूप यह निश्चित हो गया है कि उक्त सभ्यता केवल सिन्धु घाटी तक ही सीमित नहीं थी, बल्कि उसका विस्तार उत्तरी पंजाब से लेकर काठियावाड़

तक तथा बलूचिस्तान से लेकर पूर्व में गंगा-तट तक था। कुछ विद्वानों ने इसे सिन्धु-सरस्वती-घाटी की सभ्यता कहना आरम्भ किया है। परन्तु इस संज्ञा से भी पूरे भौगोलिक क्षेत्र का बोध नहीं होता। इस सभ्यता का मुख्य केन्द्र हड़प्पा था और वहाँ इसका कई शताब्दियों तक विकास हुआ। किसी उपयुक्त क्षेत्रीय नाम के अभाव में इस सभ्यता को हड़प्पा-सभ्यता कहना अधिक समीचीन होगा।

हड़प्पा-सभ्यता के स्थापत्य की कुछ विशिष्टताएँ हैं। कुछ बातों में यह बाद के भारतीय स्थापत्य से भिन्न है। मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

(1) हड़प्पा-स्थापत्य को शुद्ध धार्मिक या आध्यात्मिक नहीं कहा जा सकता। हड़प्पा-संस्कृति के स्थलों से ऐसे भवनों के अवशेष नहीं प्राप्त हुए जिन्हें निर्विवाद रूप से पूजा-गृह या मन्दिर की संज्ञा दी जा सके।

(2) इस युग की स्थापत्य-कला में उपयोगितावादी दृष्टिकोण का प्राधान्य है। सामान्यतया इसमें अलंकरण का अभाव है। इसमें ऐसे प्रमाण नहीं मिलते जिनके आधार पर यह कहा जा सके कि लकड़ी पर नक्काशी करके, विभिन्न रंगों का प्रयोग करके अथवा स्थायी प्रकार के गारे से दीवारों पर पलस्तर करके उनमें विभिन्न आकृतियों को उरेहकर भवनों को सुन्दर बनाने का कोई प्रयत्न किया जाता था। हो सकता है कि कुछ भवनों को अलंकृत किया गया हो और अलंकरण के चिह्न अब नष्ट हो गये हों। पर सामान्यतः भवनों में अलंकरणों का अभाव रहता था।

(3) नगरों में सड़कों तथा भवनों की स्थिति तथा उनकी सामान्य योजना भी लगभग एक-सी थी। उनमें तकनीकी कुशलता तथा वैज्ञानिकता के बावजूद विविधता का अभाव था।

(4) इस युग के भवनों के निर्माण में सामान्यतया पक्की ईंटों का ही प्रयोग किया गया। उनकी जुड़ाई मिट्टी के गारे से की जाती थी। दीवारों का निर्माण करते समय ईंटों को क्रमशः एक बार उनकी लम्बाई को सामने रखते हुए तथा दूसरी बार उनकी चौड़ाई को दृष्टि में रखकर लगाया जाता था। इस प्रकार जुड़ाई करते हुए इस बात का ध्यान रखा जाता था कि प्रत्येक दो ईंटों के बीच का स्थान गारे से भर जाय, और ऊपर से यह किसी अन्य ईंट से दबा रहे। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि सैन्धव युग के कारीगर ईंटों की जुड़ाई की कला में पूर्णतया दक्ष थे। ऊँचे चबूतरों के निर्माण में

तथा बाद के भवनों की दीवारों में सामान्यतया कुछ कच्ची ईंटों का प्रयोग भी किया जाता था।[1]

(५) हड़प्पा तथा मोहेनजोदड़ो में एक से अधिक मंजिल के भवनों के चिह्न कम प्राप्त हुए हैं। पर ऐसा प्रतीत होता है कि अधिकांश भवनों में एक से अधिक मंजिलें थीं। इनमें से भूमितल पर बनी प्रथम मंजिल तो ईंटों की होती थी, किन्तु उसके ऊपर एक या उससे अधिक मंजिलों के निर्माण में लकड़ी का प्रयोग किया जाता था। उन दिनों सिन्धु-उपत्यका में जंगलों के होने के कारण निर्माण-कार्य के लिए उपयोगी लकड़ी सुप्राप्य थी।

(६) दरवाजों के ऊपर की पटाई अधिकांशतः लकड़ी के तख्तों या लट्ठों की सहायता से की जाती थी। जहाँ किसी छोटे स्थान को पाटना होता वहाँ ईंटों का ढोंड़ेदार मेहराब बना दिया जाता था।

हड़प्पा-सभ्यता के प्रमुख केन्द्र तथा स्मारक

इस सभ्यता के चिह्न प्रारम्भ में हड़प्पा तथा मोहेनजोदड़ो नामक स्थानों में ही प्राप्त हुए थे। अतः अनेक विद्वानों की धारणा थी कि यह कुछ समय बाद सिन्धु घाटी में ही समाप्त हो गयी। ऐसा समझा जाता था कि इस सभ्यता का वैदिककालीन सभ्यता से कोई सम्बन्ध नहीं था।

बाद में हड़प्पा-सभ्यता के अवशेष चन्हुदड़ो आदि स्थानों में भी प्राप्त हुए। मोहेन-जोदड़ो से दक्षिण की ओर लगभग ८० मील की दूरी पर चन्हुदड़ो स्थित है। हाल में जो सर्वेक्षण तथा उत्खनन किये गये हैं उनसे यह बात निश्चित रूप से ज्ञात हुई है कि यह सभ्यता सिन्धु-घाटी में ही लुप्त नहीं हो गयी, वरन् उसका विस्तार एक बड़े क्षेत्र पर हुआ। यह सभ्यता कई शताब्दियों तक विद्यमान रही। वास्तुकला के अध्ययन की दृष्टि से इस सभ्यता के निम्नलिखित स्थानों के स्मारकों का अध्ययन उपयोगी होगा :

(१) हड़प्पा, (२) मोहेनजोदड़ो, (३) चन्हुदड़ो तथा (४) लोथल।

(१) हड़प्पा

आधुनिक हड़प्पा ग्राम पश्चिमी पंजाब के माण्टगुमरी जिले में है। इसी के नीचे तथा आसपास प्राचीन हड़प्पा नगर का पता उत्खननों से चला है। कुछ विद्वानों ने

१. द्रष्टव्य पर्सी ब्राउन, इंडियन आर्किटेक्चर, पृष्ठ २; मैके, फर्दर एक्सकेवेशन्स ऐट मोहेनजोदड़ो, जिल्द १, पृष्ठ १६२।

हड़प्पा की अभिन्नता 'हरि-यूपीया' से सिद्ध करने की चेष्टा की है।[1] 'हरि-यूपीया' का उल्लेख एक बार ऋग्वेद (६. २७. ५) में हुआ है। इन विद्वानों के अनुसार हड़प्पा की सभ्यता वैदिक सभ्यता ही थी। ऐसा प्रतीत होता है कि हड़प्पा-सभ्यता वैदिक आर्यों तथा अनार्यों की संश्लिष्ट संस्कृति थी। आधुनिक अध्ययनों से इस बात की पुष्टि होती है।

हड़प्पा के उत्खननों से यह ज्ञात हुआ है कि यह नगर लगभग ३ मील के घेरे में बसा हुआ था। जो भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं उनमें स्थापत्य-कला की दृष्टि से दुर्ग (कोटला) और रक्षा-प्राचीर के अतिरिक्त निवास-गृहों, चबूतरों तथा अन्नागारों का विशेष महत्त्व है।

कोटला—नगर की रक्षा-हेतु हड़प्पा-वासियों ने नगर के पश्चिम में एक दुर्ग या कोटला निर्मित किया था। उसका आकार समानान्तर चतुर्भुज-जैसा है। उत्तर से दक्षिण की ओर उसकी लम्बाई ४६० गज तथा पूर्व से पश्चिम की ओर चौड़ाई २१५ गज रही होगी। आजकल इसकी ऊँचाई लगभग ४० फुट है। इसका ढाल उत्तर से दक्षिण की ओर है। जिस टीले पर कोटला के अवशेष प्राप्त हुए हैं उसे विद्वानों ने 'ए-बी टीला' कहा है।[2]

कोटला के उत्तर-पूर्व में रावी नदी का कछार है। प्राचीन युग में यह नदी इसी स्थान से होकर बहती थी। आज नदी की धारा कोई ६ मील उत्तर की ओर हट गयी है। कोटला तथा कछार के मध्य स्थित एक टीला (संख्या एफ) है। वहाँ किये गये उत्खननों से हड़प्पा की उत्कृष्ट नगर-निर्माण योजना की जानकारी मिली है।

कोटला के ऊपर अन्दर की ओर लगभग २० फुट ऊँचा मिट्टी तथा कच्ची ईंटों का बना एक चबूतरा है, जिस पर कुछ मकानों का निर्माण पक्की ईंटों से किया गया था।

रक्षा-प्राचीर—कोटला की रक्षा के लिए एक प्राचीर (प्राकार) का निर्माण किया गया था। यह प्राचीर नीचे ४५ फुट चौड़ी है। ऊपर की ओर उसकी चौड़ाई कम होती गयी है। उसके निर्माण में बाहर की ओर लगभग ४ फुट तक पक्की ईंटों का और शेष आन्तरिक भाग में कच्ची ईंटों का प्रयोग किया गया। अन्दर की ओर यह दीवार पहले कुछ ऊँचाई तक एकदम सीधी थी, किन्तु बाद में उसके गिरने का भय होने पर ऊपर का

१. दे० जरनल आफ दि बिहार ऐण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी (पटना), मार्च, १६२८, पृष्ठ १२६-३०, तथा जरनल आफ दि बाम्बे ब्रांच आफ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, जिल्द २६ (१६५०), पृष्ठ ५६।

२. ह्वीलर—दि इण्डस सिविलिज़ेशन, पृष्ठ १८।

भाग कुछ तिरछा बनाया गया। इसके निर्माण का समय लगभग वही है जो कोटला के ऊपर के चबूतरे का है।

रक्षा-प्राचीर के ऊपर थोड़ी-थोड़ी दूरी पर बुर्जियों का निर्माण किया गया था। कुछ बुर्जियों को दीवारों के ऊपर उभरा हुआ पाया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्राचीर का मुख्य प्रवेश-द्वार उत्तर की ओर रहा होगा। आक्रमणों से रक्षा की दृष्टि से पश्चिम की ओर रक्षा-प्राचीर को न्यून-कोणात्मक बनाया गया। वहीं एक बुर्ज है, जहाँ रक्षा हेतु विशेष प्रबन्ध किया गया होगा। रक्षा-प्राचीर के दक्षिणी सिरे पर कोटला तक चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ बनायी गयी थीं। इससे कहा जा सकता है कि प्राचीन हड़प्पा-निवासी सीढ़ियों की निर्माण-विधि एवं उनकी उपयोगिता से परिचित थे।

निर्माण की दृष्टि से रक्षा-प्राचीर के तीन भिन्न चरणों का उल्लेख किया जा सकता है—प्राचीर के निचले भाग का निर्माण टूटी-फूटी ईंटों के टुकड़ों से किया गया। उनकी जुड़ाई सुरुचिपूर्ण ढंग से नहीं की गयी। दूसरे चरण में ऊपर के भाग में पूरी ईंटें लगायी गयीं। उनकी जुड़ाई भी पहिले की अपेक्षा अधिक अच्छी है। आजकल प्राचीर का यही सुनिर्मित भाग ऊपर दिखायी देता है। इसे पश्चिम की ओर, जहाँ प्राचीर में न्यून-कोणात्मक घुमाव है, स्पष्टतया देखा जा सकता है। तीसरे या अन्तिम चरण को उत्तर-पश्चिम की ओर देखा जा सकता है, जहाँ बाद में रक्षा-प्राचीर को और बढ़ा किया गया। अन्तिम निर्माण सबसे अधिक परिष्कृत है।

गृह—हड़प्पा में मोहेनजोदड़ो की भाँति विशाल भवनों के अवशेष नहीं प्राप्त हुए। आधुनिक हड़प्पा-निवासियों के पूर्वज बहुत दिनों तक अपने मकानों के निर्माण हेतु ईंटें प्राचीन नगर के स्मारकों से उखाड़-उखाड़ कर ले जाते रहे। जिस समय लाहौर-मुल्तान रेलवे लाइन बनी उस समय भी इस स्थान को पर्याप्त क्षति पहुँची। इन्हीं कारणों से आज अनेक प्राचीन भवनों के अस्तित्व के प्रमाण ही नष्ट हो गये हैं।

कोटला के ऊपर के चबूतरों पर गृहों के जो अवशेष मिले हैं उनसे प्राचीन स्थापत्य पर कोई उल्लेखनीय प्रकाश नहीं पड़ता, क्योंकि अधिक भग्न होने के कारण आज वे ईंटों के ढेर-मात्र हैं। प्रतीत होता है कि इस स्थान की बस्ती बहुत घनी थी।

कोटला के उत्तर में स्थित 'एफ' संज्ञक टीले की खुदाई में जो भग्नावशेष मिले हैं वे गृहों, चबूतरों तथा अन्नागारों के हैं। यह टीला लगभग २० फीट ऊँचा है। इसी पर दक्षिण की ओर कोटला के समीप दो भिन्न पंक्तियों में कुछ छोटे-छोटे गृह थे। उनमें से उत्तरी पंक्ति में सात तथा दक्षिणी पंक्ति में आठ गृहों के अवशेष स्पष्टतया देखे जा सकते हैं। इन गृहों के आकार से ऐसा प्रतीत होता है कि वे श्रमिकों के लिए बनाये गये थे।

इन गृहों में से प्रत्येक की लम्बाई-चौड़ाई कुल मिलाकर ५६ × २४ फुट है। प्रत्येक घर में दो कमरे होते थे, अथवा एक कमरा तथा एक आँगन होता था। उनकी फर्शों पर कुछ दूर तक ईंटें लगी मिली हैं। शेष फर्शों की ईंटें सम्भवतः बाद के लोगों द्वारा उखाड़ ली गयीं। दीवारों की चुनाई मिट्टी के गारे से की गयी है, किन्तु फर्शों की ईंटों को जोड़ने में जिप्सम का प्रयोग किया गया। इन मकानों के सुव्यवस्थित ढंग को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि वे एक विशेष योजना के अनुसार बनाये गये थे।

हड़प्पा के इन गृहों में, मोहेन्जोदड़ो के मकानों की भाँति, कुएँ नहीं मिले। हड़प्पा के उत्खननों में कतिपय बड़े कुओं के अवशेष मिले हैं। प्रतीत होता है कि वे सार्वजनिक कुएँ थे। उनका उपयोग केवल पीने का पानी प्राप्त करने के लिए किया जाता था, शेष कार्यों के लिए पानी रावी नदी से प्राप्त होता था।[1] इन कुओं में ईंटों की चुनाई बड़ी सफाई से की गयी है। उनकी दृढ़ता को देखकर आज भी आश्चर्य होता है।

चबूतरे—मकानों के उत्तर की ओर १७ चबूतरे बने हैं। उनसे कुछ दूरी पर एक अन्य चबूतरे के अवशेष १९४६ में प्राप्त हुए। ये चबूतरे आकार में गोल हैं तथा उनके बाहरी किनारे और फर्श पक्की ईंटों के बने हैं। इन सभी चबूतरों के मध्य एक बड़ा छेद है, जिसमें लकड़ी लगी रहती थी। इन छेदों को ओखलों की तरह प्रयुक्त किया जाता था। उनमें लकड़ी के मूसलों से अन्न कूटा जाता था। यहाँ कहीं-कहीं भूसी, जले हुए गेहूँ तथा जौ के दाने पाये गये हैं।

अन्नागार—चबूतरों से लगभग १०० गज उत्तर की ओर अन्नागारों की दो पंक्तियाँ मिली हैं। प्रत्येक पंक्ति में छह अन्नागारों के अवशेष मिले हैं, जिनकी लम्बाई-चौड़ाई कुल मिलाकर ५० × २० फुट है। अन्नागारों की दोनों पंक्तियों के बीच २३ फुट चौड़ा रास्ता है। अन्नागारों का निर्माण चार-चार फुट ऊँचे चबूतरों पर किया गया था। इन सभी के दरवाजे उत्तराभिमुख नदी की ओर थे, जिससे जलमार्ग द्वारा विभिन्न स्थानों को अन्न भेजने में सुविधा रहती होगी।

'एफ-टीला' के ये छोटे-छोटे गृह, चबूतरे तथा अन्नागार यह सूचित करते हैं कि इस स्थान पर मुख्यतया श्रमिकों की बस्ती थी। प्राचीन हड़प्पा के इन गृहों में तथा प्राचीन मिस्र के ग्रामीण गृहों में कुछ समानता दिखायी देती है। दोनों स्थानों के गृह आकार में छोटे होते थे। वे लगभग एक ही भाँति के होते थे तथा उनके चारों ओर एक दीवार रहती थी। परन्तु प्राचीन मिस्र के गाँव नगरों की सीमाओं से पर्याप्त दूर होते थे। हड़प्पा

१. माधव स्वरूप वत्स, एक्सकेवेशन्स ऐट हरप्पा, जिल्द १, पृष्ठ १३-१४।

के श्रमिकों की उपर्युक्त बस्ती हड़प्पा नगर का ही एक आन्तरिक भाग थी। इन श्रमिकों का कोटला पर निवास करने वाले प्रमुखों से सम्बन्ध रहा होगा।

(२) मोहेनजोदड़ो

प्राचीन मोहेनजोदड़ो नगर सिन्ध प्रान्त के लरकाना जिले में सिन्धु नदी के तट पर स्थित था। यहाँ के अवशेष हड़प्पा के अवशेषों की अपेक्षा अधिक सुरक्षित अवस्था में मिले हैं। उनका महत्व भी सैन्धवयुगीन स्मारकों में विशिष्ट है। कोटला का निर्माण यहाँ भी किया गया था। मोहेनजोदड़ो की खुदाई में कुछ स्मारक कोटला के ऊपर मिले हैं। अन्य उसके पूर्वी ओर के निचले क्षेत्र में उपलब्ध हुए हैं। स्थापत्य की दृष्टि से इन दोनों वर्गों का अध्ययन आवश्यक है।

(क) कोटला के ऊपर के स्मारक

हड़प्पा की भाँति मोहेनजोदड़ो के प्राचीन निवासियों ने नगर के पश्चिम की ओर एक कोटला (दुर्ग) का निर्माण किया था। वह एक ऊँचे टीले के ऊपर बनाया गया था। यह टीला दक्षिण की ओर २० फुट तथा उत्तर की ओर ४० फुट ऊँचा है। सिन्धु नदी की बाढ़ के पानी ने इसके बीच के कुछ हिस्से को काट कर एक प्रकार से इसे दो भागों में विभक्त कर दिया है। आज सिन्धु नदी इस टीले से पूर्व की ओर कोई तीन मील दूर बहती है। किन्तु कुछ विद्वानों का विचार है कि प्राचीन काल में इस नदी की एक धारा कोटला के पूर्वी किनारे पर भी अवश्य रही होगी।[1]

उपर्युक्त टीले का निर्माण कच्ची ईंटों तथा मिट्टी से किया गया। १९५० के उत्खननों के पश्चात् विद्वानों ने यह विचार व्यक्त किया कि उसकी रचना हड़प्पा-सभ्यता के 'माध्यमिक काल' में हुई। कोटला के ऊपर के कुछ प्रमुख भवन उसके बाद बने। अनुमान होता है कि इस टीले के नीचे अन्य प्राचीन भग्नावशेष दबे होंगे। बाढ़ से इस टीले की रक्षा के लिए उसके किनारे ४३ फुट चौड़ा मिट्टी का बाँध बनाया गया था। इसके अतिरिक्त कोटला के नीचे पक्की ईंटों की एक चौड़ी नाली भी बनायी गयी थी, जिससे वह बाढ़ के पानी को बाहर निकाल सके। प्रतिवर्ष बाढ़ की छोड़ी हुई मिट्टी के कारण ज्यों-ज्यों आस-पास की भूमि का स्तर ऊँचा होता गया त्यों-त्यों इस नाली को भी ऊँचा किया जाता रहा।

कोटला पर जो उत्खनन-कार्य हुआ है उससे उसके नीचे सभ्यता की सात सतहें प्रकाश में आयी हैं। यह उत्खनन-कार्य कोटला पर स्थित परवर्ती युग के बौद्ध विहार के पास

१. मैके, फर्दर एक्सकैवेशन्स ऐट मोहेनजोदड़ो, जिल्द १, पृष्ठ ४।

किया गया था। कोटला की ऊपरी सतह पर जो अन्य स्मारक मिले हैं उनमें विशाल स्नानागार, विद्यालय, अन्नागार, सभा-भवन तथा कोटला के दक्षिण में बनी कुटियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। इनका संक्षिप्त वर्णन यहाँ किया जाता है—

विशाल स्नानागार—कोटला के ऊपरी सतह के स्मारकों में स्नानागार सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। उत्तर से दक्षिण की ओर इसकी लम्बाई ३९ फुट तथा पूर्व से पश्चिम की ओर चौड़ाई २३ फुट है। यह ८ फुट गहरा है। नीचे तक पहुँचने के लिए इसमें उत्तर तथा दक्षिण की ओर सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। ये सीढ़ियाँ पक्की ईंटों की हैं। उनके ऊपर लकड़ी की पट्टियाँ बैठायी गयी थीं। उत्तर की ओर सीढ़ियों के अन्त में एक छोटा चबूतरा था।

स्नानागार का फर्श सुन्दर पक्की ईंटों का बना है। उसकी जुड़ाई में जिप्सम का प्रयोग किया गया था। फर्श के आस-पास की दीवारों की चुनाई भी जिप्सम से की गयी। सामने की ईंट की परत के पीछे बिटूमन का एक इंच मोटा पलस्तर है। उसके बाद की परत की ईंटें भी बिटूमन से ही जुड़ी हैं। यह कठिनाई से प्राप्त होने वाला जुड़ाई करने का पदार्थ था। इसकी दुर्लभता के कारण बिटूमन का प्रयोग मोहेंजोदड़ो में बहुत कम हुआ है। सुमेर तथा बेबीलोन में इसका प्रयोग बहुतायत से साधारण पलस्तर की तरह मिला है।

इस स्नानागार का फर्श दक्षिण-पश्चिम की ओर ढलुआ बनाया गया था। इसी दिशा में १ फुट १ इंच चौड़ी तथा ६ फुट ९ इंच गहरी एक नाली बनी थी, जो सम्भवतः कोटला के पश्चिम की ओर तक गयी थी। आवश्यकता पड़ने पर इसी नाली से स्नानागार का पानी बाहर निकाल दिया जाता था।

स्नानागार के चारों ओर प्रकोष्ठ बने हैं। पूर्वी ओर प्रकोष्ठ के बाद छोटे-छोटे कमरों की एक पंक्ति है। दक्षिण की ओर के प्रकोष्ठ के दोनों सिरों पर दो छोटे-छोटे कमरे हैं। उत्तर की ओर के कमरे बड़े थे। इन कमरों के आगे ८ छोटे-छोटे कमरे दो पंक्तियों में बने थे, जिनके बीच से एक रास्ता जाता था, जिसमें एक नाली भी बनी थी। इन कमरों का उपयोग भी स्नान के लिए ही किया जाता रहा होगा। पश्चिम की ओर कोई कमरा नहीं है। कमरों में स्थान-स्थान पर नल भी लगे हुए हैं, जिनसे होकर सम्भवतः गरम पानी आता था। सभी कमरों की दीवारें बहुत मजबूत हैं। वे ४ फुट से ५½ फुट तक मोटी हैं। प्रायः बाहर की ओर पक्की ईंटों की और बीच में कच्ची ईंटों की जुड़ाई की गयी है। कमरों में सीढ़ियाँ भी बनी हैं। मोटी दीवारों तथा सीढ़ियों से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इन कमरों के ऊपर दूसरी मंजिल भी रही होगी।

यह विशाल स्नानागार सार्वजनिक उपयोग में आता रहा होगा। ऐसा कोई पुष्ट प्रमाण अभी तक नहीं मिला जिससे यह कहा जा सके कि इस स्नानागार के जलाशय का किसी धर्मविशेष से सम्बन्ध था।

विद्यालय—स्नानागार के उत्तर-पूर्व की ओर एक विशाल भवन है, जिसकी लम्बाई २३० फुट तथा चौड़ाई ७८ फुट है। उसकी बाहरी दीवारें ६ फुट ६ इंच तक मोटी हैं। मैके का विचार है कि यह किसी बड़े उच्च अधिकारी, सम्भवतः बड़े पुरोहित, का निवास था अथवा पुरोहितों का विद्यालय था।[1] इसमें ३३ फुट लम्बा-चौड़ा वर्गाकार आँगन है, तीन बड़े-बड़े बरामदे हैं तथा उनके पीछे कई छोटे-छोटे कमरे हैं। इसमें पहले कभी पूर्वी छोटी गली की ओर ५ दरवाजे रहे होंगे। दक्षिण तथा पश्चिम की ओर भी एक-एक द्वार था। बाद के लोगों ने आवश्यकतानुसार उसमें अनेक परिवर्तन भी किये। इसके कई कमरों के फर्शों पर ईंटें जुड़ी हुई हैं। कम से कम दो कमरों में सीढ़ियाँ भी मिली हैं। स्नानागार पास होने के कारण ही इस इमारत के निकट कोई कुआँ नहीं बनाया गया था।

अन्नागार—स्नानागार के ठीक पश्चिम में एक अन्य भवन के अवशेष प्राप्त हुए हैं। पहले इसे स्नानागार का ही एक भाग माना जाता था। १९५० ई० के उत्खननों के पश्चात् यह ज्ञात हुआ कि ये अवशेष एक विशाल अन्नागार के हैं। आरम्भ में पूर्व से पश्चिम की ओर इसकी लम्बाई १५० फुट तथा उत्तर से दक्षिण की ओर चौड़ाई ७५ फुट थी। शीघ्र ही दक्षिण की ओर उसका और अधिक विस्तार किया गया होगा। इस अन्नागार का निर्माण स्नानागार के निर्माण के कुछ समय पूर्व हो गया प्रतीत होता है। अन्नागार में ईंटों के बने हुए अनेक प्रकोष्ठ मिले हैं। यहाँ लकड़ी का प्रयोग बहुतायत से किया गया है। अन्नागार में प्रत्येक स्थान पर हवा जाने का भी समुचित प्रबन्ध किया गया था। उसके उत्तर की ओर एक चबूतरा है, जिसकी आवश्यकता अन्न को रखने या निकालने के लिए पड़ती होगी।

सभा-भवन—कोटला के दक्षिणी भाग में एक अन्य भवन के अवशेष मिले हैं। यह ९० फुट लम्बा-चौड़ा एक वर्गाकार भवन था। इसमें ईंटों के बने २० चौकोर स्तम्भों के अवशेष प्राप्त हुए हैं। सम्भवतः इन्हीं स्तम्भों के ऊपर छत रही होगी। इस प्रकार यह सभा-भवन प्रतीत होता है, जो खम्भों पर टिका था। भवन के खम्भे ४ पंक्तियों में हैं, प्रत्येक पंक्ति में ५ खम्भे हैं। भवन के अन्दर बैठने के लिए चौकियाँ पड़ी रहती होंगी,

१. फर्दर एक्सकैवेशन्स ऐट मोहेनजोदड़ो, जिल्द १, पृष्ठ १०।

जो आज नष्ट हो चुकी है। इस भवन का उपयोग सार्वजनिक सभाओं आदि के लिए होता होगा। मैके का अनुमान है कि यहाँ कोई बाजार लगता रहा होगा।

इस भवन के पश्चिम में एक अन्य इमारत के अवशेष मिले हैं। सम्भवतः यह भी स्तम्भों पर आधारित थी। आकार में यह सभाभवन से छोटी इमारत थी।

कुछ विद्वानों का मत है कि परवर्ती काल में स्तम्भों वाले भवन बनाने की कला भारतीयों ने ईरानियों से सीखी। ई० पू० चौथी-तीसरी शती में मौर्य-सम्राटों ने पाटलिपुत्र में बहुसंख्यक स्तम्भों वाले भवन का निर्माण कराया था, जिसके अवशेष आधुनिक उत्खननों में मिले हैं। मोहनजोदड़ो में प्राप्त उपर्युक्त स्मारक स्तम्भाधारित भवनों के ही माने जाते हैं। वैदिक साहित्य में सहस्र स्तम्भों वाले भवनों के विवरण उपलब्ध हैं। इस आधार पर स्तम्भों वाले भवनों के निर्माण की परम्परा भारत में बहुत पुरानी ठहरती है।

बुर्जियाँ—कोटला के ऊपर दक्षिण-पूर्वी किनारे पर ईंटों का ढेर तथा अन्य चिह्न प्राप्त हुए हैं। ये अवशेष बुर्जियों के हैं। इस स्थान पर सम्यक् उत्खनन न हो सकने के कारण बुर्जियों के स्वरूप के विषय में ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता. बुर्जियों का निर्माण पक्की ईंटों के बने हुए आधारों पर किया गया था। उनमें लकड़ी का प्रयोग भी किया गया था। बाद में लकड़ी के लट्ठों के नष्ट होने पर बुर्जियों को क्षति पहुँची और उनकी मरम्मत की गयी। इसीलिए बाद में इस प्रकार के निर्माण-कार्य में लकड़ी का प्रयोग बन्द कर दिया गया। कोटला के पश्चिमी भाग में अन्नागार के दक्षिण में भी १० फुट ऊँची एक बुर्जी के अवशेष मिले हैं। इन सभी बुर्जियों का निर्माण रक्षात्मक दृष्टि से किया गया था।

पुरातत्त्ववेत्ताओं का मत है कि कोटला के ऊपर अभी अधिक उत्खनन की आवश्यकता है। तो भी इस क्षेत्र में जो अवशेष मिले हैं वे भारतीय स्थापत्य के प्राचीनतम स्वरूप की जानकारी के लिए बहुमूल्य हैं।

(ख) निचले नगर के अवशेष

कोटला के पूर्व में स्थित निचले क्षेत्र में उत्खननों के परिणामस्वरूप जो अवशेष मिले हैं वे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। वस्तुतः इस क्षेत्र में प्राचीन मोहनजोदड़ो की परिष्कृत नगर-निर्माण-योजना का परिचय मिलता है। इस योजना में एक नवीनता है। स्मारकों आदि के अध्ययन से यह निश्चित रूप से ज्ञात हुआ है कि निचले नगर का निर्माण सुनियोजित व्यवस्था के आधार पर किया गया। यहाँ सड़कों तथा गलियों की विस्तृत योजना है, जिनके बीच मकान बनाये गये थे। सड़कों के किनारे-किनारे नालियों का भी निर्माण

किया गया था। पूरी निर्माण-योजना को स्पष्ट रूप से समझने के लिए यह आवश्यक है कि वहाँ की सड़कों, उनके बीच बने भवनों तथा नालियों के विषय में विस्तृत जानकारी दी जाए।

सड़कें—इस क्षेत्र के उत्खनन में कई सड़कें मिली हैं। ये सड़कें उत्तर से दक्षिण तथा पूर्व से पश्चिम जाती हैं और एक-दूसरी को समकोण पर काटती हैं। इस प्रकार सड़कों के बीच-बीच में लगभग समानाकार छोटे खण्ड (मोहल्ले) बन गये हैं, जिनकी सामान्यतया लम्बाई (पूर्व-पश्चिम) १,२०० फुट तथा चौड़ाई (उत्तर-दक्षिण) ८०० फुट है। प्रत्येक मोहल्ले के अन्तर्गत कई मकान हैं। बड़ी सड़कों के अतिरिक्त उत्खनन में अनेक छोटी-छोटी गलियाँ या वीथियाँ निकली हैं। उत्खननों के परिणामस्वरूप इमारतों के जो अवशेष मिले हैं उनसे ६ या ७ मोहल्लों का स्पष्ट आभास मिलता है।[1]

मुख्य सड़कों में से प्रत्येक की चौड़ाई लगभग ३० फुट है। गलियाँ ५ से १० फुट तक चौड़ी हैं। उत्तर से दक्षिण की ओर जाती हुई मोहेनजोदड़ो की एक मुख्य सड़क को राजपथ माना गया है। कहीं-कहीं यह सड़क ३३ फुट तक चौड़ी है।

मोहेनजोदड़ो की सड़कें चौड़ी तथा सीधी तो हैं, किन्तु उन पर ईंटें आदि नहीं बिछायी गयीं। उनके किनारे नालियाँ बनी होने के कारण वर्षा में सड़कों पर अधिक समय पानी नहीं ठहरता होगा। फिर भी कच्ची होने के कारण ये सड़कें वर्षा में कष्टप्रद हो जाती रही होंगी। एक सड़क के कुछ भाग पर गिट्टियाँ पड़ी हुई मिली थीं। लगता है कि सड़कों पर पहले गिट्टियाँ बिछाने की बात सोची गयी, बाद में किन्हीं अज्ञात कारणों से इस योजना को त्याग दिया गया।

एक सड़क के दोनों ओर चबूतरे बने हुए मिले हैं। इनका उपयोग रात्रि में सोने के लिए अथवा दिन में छोटा-सा बाजार लगाने के लिए होता होगा। सड़कों पर सफाई बनाये रखने की दृष्टि से उनके किनारे कूड़ाघरों का भी निर्माण किया गया था। हड़प्पा में कूड़ाघर जमीन को खोदकर बनाये गये थे।

गृह—सड़कों तथा गलियों के बीच-बीच लगभग समानाकार क्षेत्रों में निर्मित गृहों के अवशेष मिले हैं। इन गृहों के द्वार मुख्य सड़कों की ओर न होकर गलियों की ओर खुलते थे। खिड़कियों के चिह्न कहीं-कहीं मिले हैं। प्रतीत होता है कि बड़ी खिड़कियों की अपेक्षा झरोखों या गवाक्षों को अधिक पसन्द किया जाता था। उनसे पर्याप्त हवा तथा

१. मार्शल, मोहेनजोदड़ो ऐण्ड इण्डस सिविलिजेशन, जिल्द २, पृ० ४६५।

प्रकाश मिल जाते थे। साथ ही बाहरी लोगों से आड़ भी रहती थी। प्रत्येक घर में एक आँगन होता था, जिसके चारों ओर कमरे बने होते थे।

मोहेनजोदड़ो के इन मकानों के स्वरूप का ज्ञान वहाँ प्राप्त एक गृह-विशेष के अध्ययन से किया जा सकता है। यद्यपि सुरक्षित अवस्था में इस प्रकार का एक गृह, सं० ८ ('एच-आर क्षेत्र', विभाग 'ए')[1] है। इसका प्रवेश-द्वार एक गली की ओर है, जो ५ फुट चौड़ी है। इस गृह में प्रवेश करते ही पहले छोटा दालान मिलता है। वहीं पास में एक छोटा कमरा है, जो सम्भवतः सेवक के निवास के लिए रहा होगा। वहीं से एक सँकरे गलियारे में होकर, जिसके दक्षिण की ओर एक कुआँ बना है, मुख्य आँगन के लिए रास्ता गया है। यह आँगन पूरी तरह खुला था। बाद में उसके कुछ भाग को पाट दिया गया। कुएँ के पास स्नान करने के लिए एक पृथक् कमरा बना है, जिसके फर्श पर ईंटों को सफाई के साथ जोड़ा गया है। इसके पूर्व में एक कमरा और है। आँगन के पूर्व में कई छोटे-छोटे कमरे बने हैं। उन्हीं में एक की दीवार पर खड़ी नाली बनी है, जिससे ऊपर की छत अथवा मंजिल का पानी बहकर सड़क की नाली में चला जाता था। आँगन के उत्तर की ओर ऊपर जाने के लिये ईंटों की सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। दीवार की मोटाई तथा सीढ़ियों से ऐसा लगता है कि इस गृह में ऊपर की मंजिल भी रही होगी।

बड़े भवनों के जो अवशेष प्राप्त हुए हैं उनका नक्शा उपर्युक्त गृह के नक्शे से प्रायः मिलता-जुलता है। 'डी-के क्षेत्र' के दक्षिण की ओर २५० फुट लम्बे एक भवन के अवशेष मिले हैं। पहले इसे किसी सार्वजनिक भवन का एक भाग माना जाता था। बाद के निरीक्षणों से पता चला कि वह एक महल है। इस महल की बाहरी दीवार, जो उत्तर की ओर है, कहीं-कहीं ७ फुट तक चौड़ी है। इसमें एक के स्थान पर दो आँगन हैं। नौकरों के कमरे तथा गोदाम भी बने हैं। इसमें दो कुएँ भी थे। परवर्ती युग में इस महल के अवशेषों के ऊपर इमारतें बनायी गयीं। उनकी रचना-शैली साधारण कोटि की है।

'वी-आर क्षेत्र' में चौड़ी सड़क पर ही एक अन्य गृह के अवशेष उल्लेखनीय हैं। यह गृह ८७ फुट लम्बा और ६४ फुट चौड़ा है। इसके बीच में आँगन तथा चारों ओर कमरे तो हैं ही, सड़क की ओर तीन ऐसे कमरे भी हैं जिनके फर्श पर सफाई के साथ ईंटें जड़ी हुई हैं। फर्शों पर कुछ गड्ढे हैं, जिन पर घड़े रखे जाते होंगे। पास ही एक कुआँ बना हुआ है। इस प्रकार यह गृह एक सार्वजनिक पानगृह सा प्रतीत होता है।

१. मार्शल, मोहेनजोदड़ो ऐण्ड इण्डस सिविलिजेशन, जिल्द २, पृष्ठ ४६५।

एक अन्य क्षेत्र में दो पंक्तियों में बने १६ छोटे-छोटे गृहों के अवशेष मिले हैं। प्रत्येक में केवल दो-दो कमरे हैं। सामने का कमरा कुछ बड़ा है, पीछे का छोटा। यह श्रमिकों की बस्ती रही होगी, जैसी कि हड़प्पा में मिली है।

इन सभी गृहों की दीवारों में पक्की ईंटों का प्रयोग हुआ था। कच्ची ईंटों का इस्तेमाल केवल गृहों के अन्दर कमरों तथा आंगनों के फर्श को आवश्यकतानुसार ऊँचा करने के लिए किया गया है। इस प्रयोजन के लिए पक्की ईंटों का भी प्रयोग किया गया है, पर कम। दीवारों की चुनाई करते समय ईंटों को पहले लम्बाई के आधार पर, फिर चौड़ाई के आधार पर जोड़ा गया है। चुनाई की इस प्रणाली को 'इंग्लिश बांड' कहते हैं। दीवारों पर अन्दर की ओर मिट्टी के गारे का पलस्तर किया गया है। दीवारों पर बाहर भी इस प्रकार का पलस्तर होता था, यह नहीं कहा जा सकता। अनुमान है कि ऊपर की मंजिलों के निर्माण में लकड़ी का इस्तेमाल किया जाता था। सहारा देने के लिए जहाँ कहीं खम्भों की आवश्यकता पड़ती थी वहाँ भी लकड़ी का प्रयोग किया जाता रहा होगा। जिन पकी हुई ईंटों का प्रयोग होता था उनकी नाप साधारणतः ११" × ५½" × २½" है। अब तक प्राप्त सबसे बड़ी ईंट की नाप २०¼" × ८¾" × ३¼" तथा सबसे छोटी ईंट की ९¾" × ४¾" × २" है। कच्ची ईंटों का आकार सामान्यतया १४" × ७½" × ३½" से लेकर १८" × ७½" × ३¼" तक है। ये ईंटें सफाई से बनायी गयी हैं।

१९३० से १९३१ के बीच हुए उत्खननों में अनेक दीवारों को साफ करके निकाला गया। उनकी कुछ विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं। पास-पास के गृहों की बाहरी दीवारें भी एक-दूसरी से मिली हुई नहीं थीं। उनमें नीचे जो अन्तर है वह ऊँचाई की वृद्धि के साथ-साथ दीवारों के तिरछी होने के कारण बढ़ता गया। कहीं-कहीं इस प्रकार दो दीवारों के बीच रिक्त स्थान को टूटी-फूटी ईंटों या कतलों से भर दिया गया है। किन्तु अधिकतर गृहों में इस रिक्त स्थान को दोनों किनारों की ओर ही भरा गया है, बीच के स्थान को ऐसे ही छोड़ दिया गया है। इसके साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि बाद के युग में जो दीवारें बनायी गयीं वे प्रायः पहले की बनी हुई चौड़ी दीवारों के ऊपर बनीं। उनमें दोनों ओर तो पूरी-पूरी ईंटों का प्रयोग किया गया, किन्तु बीच-बीच में पुरानी ईंटों के टुकड़े भर दिये गये। किसी-किसी गृह में कच्ची-पक्की दोनों प्रकार की ईंटें क्रमशः एक के बाद एक करके बनायी गयी हैं। मितव्ययिता की दृष्टि से ही ऐसा किया गया होगा। बाद के युग में बनी दीवारें उतनी सुदृढ़ एवं सुन्दर नहीं हैं जितनी प्रारम्भिक युग की दीवारें।

प्रारम्भिक-युगीन दीवारों के ऊपर जब बाद की दीवारें खड़ी करने की आवश्यकता हुई तब पहले की दीवारों को साफ करके हमवार बना लिया गया था। बाद के युग की

दीवारें अपेक्षाकृत कम चौड़ी हैं। जिस स्तर से उनका निर्माण आरम्भ हुआ था उस पर पुरानी दीवारों के सिरे को दोनों ओर निकला हुआ देखा जा सकता है। इस प्रकार वस्तुतः पुरानी दीवारों का उपयोग परवर्ती युग में नींव के रूप में किया गया। परवर्ती दीवारों में पहले की ईंटों का भी सुविधानुसार प्रयोग किया गया। दोनों युगों की ईंटों के आकार में अन्तर होने के कारण परवर्ती दीवारों की चुनाई में 'इंग्लिश बांड' विधि का निर्वाह पूर्णतया नहीं हो सका। कई स्थानों पर लगातार एक से अधिक ईंटों को चौड़ाई के आधार पर ही जोड़ दिया गया। ऐसा इसलिए किया गया होगा कि दो भिन्न स्तरों की ईंटों के जोड़ एक-दूसरे के ऊपर न आ जायें।[1] गिरने की आशंका से प्रायः बाहरी दीवारों में, जो अधिक ऊँची होती थी, बाहर की ओर कच्ची या पक्की ईंटों की एक प्रतिरक्षा दीवार भी बना दी जाती थी।

मोहेनजोदड़ो के मकानों के द्वार सामान्यतया सवा तीन फुट चौड़े हैं। परन्तु विभिन्न द्वारों के आकार में थोड़ा-बहुत अन्तर मिलता है। दरवाजों में लकड़ी की चौखट कैसे लगायी जाती थी, यह बताना कठिन है, क्योंकि दीवारों पर चौखटों के लगाने के कोई स्पष्ट चिह्न प्राप्त नहीं हुए। हो सकता है चौखटें दीवारों के ठीक बीच में न लगाकर उनके पीछे लगायी गयी हों। यह भी सम्भव है कि ऊपर पटाई की लकड़ी से ही किवाड़ दबे रहते हों। किवाड़ों में कुण्डी कैसे लगती थी, यह भी ज्ञात नहीं हो सका। परवर्ती युग के एक कमरे के द्वार के ऊपर एक छेद है। सम्भवतः उसी में किसी विशेष प्रकार की कुण्डी लगायी जाती थी। तत्कालीन लोगों को गोल मेहराबों का ज्ञान नहीं था। छोटे-छोटे रिक्त स्थानों की पूर्ति ईंटों की टोडेदार मेहराबों (चाप) से की जाती थी। दरवाजों आदि के ऊपर के चौड़े स्थान लकड़ी के लट्ठों की सहायता से पाट दिये जाते थे।

छतें प्रायः समतल आकार की रही होंगी। दुर्भाग्य से किसी भी मकान की छत के अवशेष नहीं प्राप्त हो सके। छतों को बनाते समय पहले लकड़ी के शहतीरों को थोड़े-थोड़े अन्तर से दीवारों पर बिछाया जाता था। फिर शहतीरों के ऊपर सरकण्डों को बिछाकर उन्हें रस्सी से मजबूत बाँध दिया जाता था। बाद में सरकण्डों के ऊपर मिट्टी की मोटी तह डालकर छत तैयार कर ली जाती थी। एक स्थान पर सरकण्डों के निशानों से युक्त मिट्टी मिली है। उससे उक्त अनुमान की पुष्टि होती है। इन मकानों की समतल छतें गर्मियों में सोने के लिए उपयोगी रही होंगी।

१. फर्दर एक्सकैवेशन्स ऐट मोहेनजोदड़ो, जिल्द १, पृष्ठ १६३।

अधिकांश गृहों में स्नानगृह के पास शौचालय मिला है। कुछ मकानों में इनका निर्माण ऊपर की मंजिल में भी किया गया था। मल के निष्कासन हेतु दीवारों की मोटाई में ही ईंटों को विधिवत् जोड़कर नालियाँ बनायी गयी थीं। कहीं-कहीं इसके लिए मिट्टी के पाइपों (प्रणालकों) को भी लगाया गया था।

कुछ गृहों के अन्दर दीवारों से बाहर निकले हुए ईंटों के टोंडे बने हैं। उनमें ईंटों के ऊपरी हिस्से समतल नहीं हैं। उनमें गड्ढे भी बने हैं। इन टोंड़ों का उपयोग दीपकों के रखने के लिए किया जाता रहा होगा।

कुछ मकानों के सामान्य स्तर को ऊँचा करने के लिए अनुमानित बाढ़ की ऊँचाई से कुछ अधिक ऊँचे चबूतरों का निर्माण किया गया था। ये कच्ची ईंटों से बनाये गये थे तथा उनकी जुड़ाई भी मिट्टी के गारे से की गयी थी। इन ईंटों का आकार १५" × ८" × ३½" या इससे कुछ कम है।

नालियाँ—नालियों की जैसी सुन्दर व्यवस्था मोहेनजोदड़ो में मिली है वैसी तत्कालीन किसी सभ्य देश में नहीं पायी गयी। सभी प्रमुख सड़कों तथा प्रायः सभी चौड़ी गलियों के दोनों ओर पक्की ईंटों की नालियाँ बनी हुई थीं। इन नालियों के बीच-बीच में गड्ढे बने हुए थे, जिनमें पानी के साथ बहकर आया हुआ कूड़ा एकत्र हो जाया करता था। इन गड्ढों की नियमित सफाई की जाती रही होगी। अधिकतर नालियाँ पर्याप्त गहरी तथा ९ इंच तक चौड़ी मिली हैं।[1] ये सभी नालियाँ ऊपर ईंटों अथवा पत्थरों से ढकी थीं। चौड़ी सड़कों की बड़ी-बड़ी नालियों में गलियों की छोटी नालियाँ आकर मिलती रहती थीं।

मकानों में भी नालियाँ बनी होती थीं, जिनमें से होकर गन्दा पानी गलियों की नालियों में जाता था। प्रायः स्नानगृह तथा कुएँ सड़कों की ओर होते थे। इन्हीं स्थानों में फर्श के किनारे पक्की ईंटों की नालियाँ बनायी जाती थीं। कभी-कभी इस उद्देश्य के लिए मिट्टी के पाइपों का भी इस्तेमाल किया जाता था। दूसरी मंजिल की छतों के पानी को बाहर निकालने के लिए प्रायः दीवारों पर ही बाहरी ओर नालियाँ बनायी जाती थीं। कभी-कभी बहाव के वेग को कम करने तथा सड़क पर पानी को फैलने से रोकने के लिए इन नालियों को थोड़ा ऊँचा-नीचा करके ढलुआँ बना दिया जाता था। इस प्रकार की नालियों में भी कहीं-कहीं मिट्टी के पाइपों का प्रयोग किया गया था।

1. दे० सतीशचन्द्र काला, सिन्धु-सभ्यता, पृष्ठ ८६।

कहीं-कहीं इन नालियों में मिट्टी के पलस्तर के चिह्न भी मिले हैं। सामान्यतया सभी बड़ी नालियों में जिप्सम तथा चूने के मिश्रण का पलस्तर मिला है। बाद के युग की बनी कुछ नालियों में केवल चूने का प्रयोग किया गया।

(३) चन्हुदड़ो

मोहेनजोदड़ो से दक्षिण लगभग ८० मील की दूरी पर सकन्द के पास तीन प्राचीन टीले हैं। इन टीलों में प्राचीन चन्हुदड़ो के अवशेष मिले हैं। ये टीले पहले एक-दूसरे से मिले हुए रहे होंगे। बाद में सिन्धु नदी द्वारा कटाव के कारण प्राचीन टीला तीन भागों में विभक्त हो गया। अब सिन्धु नदी इस स्थान से लगभग १२ मील दूर बहती है।

इस क्षेत्र में १९३१ ई० में उत्खनन कार्य किया गया था। उसके परिणामस्वरूप यहाँ हड़प्पा-कालीन तथा बाद के युग की संस्कृति के अवशेष प्राप्त हुए। १९३५-३६ में इस स्थान पर पुनः उत्खनन किया गया।

उत्खननों में प्राप्त विभिन्न स्तरों के अवशेषों का वर्गीकरण पिगट[1] द्वारा इस प्रकार किया गया है—

चन्हुदड़ो, प्रथम स्तर (क)
„ „ „ (ख) हड़प्पा संस्कृति
„ „ „ (ग)
चन्हुदड़ो, द्वितीय स्तर — झूकर संस्कृति
चन्हुदड़ो, तृतीय स्तर — झंगर संस्कृति

टीला सं० २ में हड़प्पाकालीन तीनों स्तरों का विशेष अध्ययन किया गया। प्रतीत होता है कि इस स्थल पर दो बार निर्माण-कार्य हुआ और दोनों ही बार बाढ़ ने सब कुछ नष्ट कर दिया। उसके बाद यहाँ नये सिरे से निर्माण हुआ।

सबसे नीचे के स्तर पर ईंटों के बने तीन या चार गृहों के अवशेष देखे गये। इसके ऊपर के स्तर में प्राप्त कुछ अवशेष उल्लेखनीय हैं। लगभग २५ फुट चौड़ी एक सड़क मिली है, जिसे समकोण पर काटती हुई कई गलियाँ हैं। हड़प्पा तथा मोहेनजोदड़ो की भाँति यहाँ भी इन गलियों तथा सड़क के दोनों ओर नालियाँ थीं। सड़क के आस-पास कुछ ऐसे मकानों के अवशेष मिले हैं जिनके आधार पर इसे कारीगरों की बस्ती कहा जा सकता है। इसके ऊपर की सतह पर केवल कुछ दीवारों के अवशेष बचे हैं। दीवारों के आकार से लगता है कि इस स्तर पर किसी विशेष महत्त्व के विशाल भवन नहीं थे।

१. प्रीहिस्टॉरिक इण्डिया, पृष्ठ २२२।

इस टीले के दक्षिण-पश्चिम में स्थित टीला सं० १ के उत्खननों में भी हड़प्पाकालीन अवशेष मिले हैं। यहाँ भी सड़कें, मकान एवं नालियाँ मोहेनजोदड़ो की तरह की हैं। यहाँ लगभग ५ फुट चौड़ी तथा ८० फुट लम्बी एक दीवार के अवशेष भी मिले हैं। इस दीवार का बाहरी भाग सुन्दर ढंग से ईंटों का बना है। अन्दर के भाग में उतनी सफाई एवं सुन्दरता नहीं है।

टीला सं० २ पर हड़प्पा-युग के बाद के अवशेष भी मिले हैं। इस स्तर पर सम्भवतः झूकर-संस्कृति के लोग आकर बस गये थे। उनमें से अधिकांश ने निचले स्तरों के गृहों की दीवारों को ही कुछ ऊँचा करके अपने रहने का प्रबन्ध कर लिया था। बाद के युग के बने इन गृहों में पुरानी ईंटों का ही प्रयोग किया गया और उनकी चुनाई भी अव्यवस्थित ढंग से की गयी। इस स्तर पर कुछ लोग झोंपड़े बनाकर भी रहने लगे थे। वे अपने चूल्हे झोंपड़ों के बाहर बनाते थे और हवा के झोंकों से बचने के लिए चूल्हों के पास कच्ची-पक्की ईंटों की एक छोटी दीवार बना लेते थे।

टीला सं० २ पर झंगर-संस्कृति वाले जो लोग आकर बसे थे उनके बनाये मिट्टी के बरतनों के कुछ टुकड़े मिले हैं। किन्तु उनके मकानों का कोई अवशेष नहीं मिला। अतएव उन्हें स्थापत्य का कितना ज्ञान था, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता।

(४) लोथल

लोथल नामक टीला गुजरात के जिला अहमदाबाद में सरगवाल ग्राम के पास स्थित है। यह लगभग १,६०० फुट लम्बा, १,००० फुट चौड़ा तथा २० फुट ऊँचा है। टीले के ऊपर प्राप्त कुछ प्राचीन वस्तुएँ महत्वपूर्ण समझी गयीं। अतः यहाँ उत्खनन-कार्य केन्द्रीय पुरातत्त्व विभाग द्वारा किया गया। उसके परिणामस्वरूप यहाँ पर भी हड़प्पाकालीन सभ्यता के अवशेष मिले। पहले ऐसा प्रतीत हुआ कि इस स्थान पर तीन विभिन्न कालों की सभ्यता थी।[1] बाद के उत्खननों से पता चला कि यहाँ छः विभिन्न कालों की सभ्यता के अवशेष हैं।[2]

चबूतरा तथा रक्षा-प्राचीर—लोथल की प्राचीन बस्ती भोगवो तथा साबरमती नदियों के बीच स्थित थी। आरम्भ में यहाँ के निवासियों को इन नदियों की बाढ़ का सामना करना पड़ा होगा, जिससे उन्हें पर्याप्त क्षति पहुँची होगी। इसी कारण उन्होंने इस क्षेत्र में कच्ची ईंटों का एक विशाल चबूतरा निर्मित किया और उसके ऊपर अपने मकानों

१. इण्डियन आर्कियोलॉजी—ए रिव्यु (१९५४-५५), पृष्ठ १२।
२. वही, (१९५६-५७), पृष्ठ १५।

का निर्माण किया। परवर्ती युगों में जैसे-जैसे उन्हें बाढ़ से बचाव की आवश्यकता का अनुभव हुआ उन्होंने इस चबूतरे को भी अधिक ऊँचा किया। इस प्रकार इस चबूतरे को पाँच विभिन्न कालों में निर्मित किया गया। इसके अतिरिक्त इसी चबूतरे पर मिट्टी की एक रक्षा-प्राचीर का भी निर्माण किया गया। प्राचीर ३५ फुट चौड़ी तथा ८ फुट ऊँची है। इसे बाढ़ से रक्षा की दृष्टि से ही बनाया गया था। बाद में इसमें जो दरारें पड़ीं उनकी मरम्मत भी की जाती रही। उत्तर की ओर ऐसी एक दरार को ठीक करते समय बाहर की ओर ईंटों से इसे पुख्ता बनाया गया। अन्दर की ओर भी एक सहायक दीवार बना दी गयी तथा बीच के भाग का भराव मिट्टी से किया गया।

१९५७ के उत्खननों में प्राचीन बस्ती के चारों ओर एक बाहरी चबूतरे के अवशेष मिले।[1] यह चबूतरा कच्ची ईंटों का बना है। उस समय इसे दक्षिण की ओर ६० फुट तक तथा पूर्व की ओर ३५० फुट तक देखा जा सका। पश्चिम की ओर भी एक चबूतरे के अवशेष मिले। यह सम्भवतः उपर्युक्त चबूतरे का ही एक भाग था।

सड़कें—लोथल में मोहेनजोदड़ो की भाँति विस्तृत सड़कें नहीं मिलीं। टीले के उत्तर की ओर १२ फुट चौड़ी एक सड़क मिली है, जिसके दोनों ओर मकानों का निर्माण किया गया था। यह सड़क द्वितीय काल में बनी प्रतीत होती है। एक अन्य सड़क टीले के दक्षिण-पश्चिमी क्षेत्र में मिली है, जो पूर्व से पश्चिम को जाती है। उसके दोनों ओर भी मकान बने हुए थे, जिनके अवशेष उत्खननों में प्राप्त हुए हैं। इस सड़क का निर्माण यहाँ तृतीय काल में हुआ तथा उसका अस्तित्व चतुर्थ काल में भी बना रहा। ये सड़कें कच्ची थीं, किन्तु उनके किनारे-किनारे नालियाँ बनायी गयी थीं।

गृह—लोथल के गृह मोहेनजोदड़ो के मकानों की भाँति सुन्दर और बड़े नहीं थे। १९५५ के उत्खननों में प्राप्त एक छोटे से मकान के अवशेष विशेष उल्लेखनीय हैं। उसमें एक स्नानगृह तथा रसोईघर भी मिला। मकान के बाहर पानी निकालने के लिए नालियाँ बनी हुई थीं। एक अन्य स्थान पर एक ही पंक्ति में बने कई गृहों के अवशेष मिले हैं। उनमें स्नानगृह हैं तथा बाहर की ओर एक-दूसरे से मिली हुई नालियाँ भी बनी हैं। इनके अतिरिक्त एक स्थान पर कई गृह दो श्रेणियों में बँटे हुए पास-पास मिले हैं। उनके बीच में एक सँकरा मार्ग है। ऊपर कच्ची ईंटें लगी हुई हैं। अधिकांश गृहों के अन्दर कच्ची या पक्की ईंटों के गोल घेरे बने हुए हैं। उनमें मूर्तियाँ, जानवरों की जली हड्डियाँ तथा मिट्टी के बरतनों के टुकड़े मिले हैं। १९५७ के उत्खननों में दो मकानों के अवशेष भी मिले।

१. वही, (१९५७-५८), पृष्ठ १२।

ये कच्ची ईंटों के बने हैं। एक घर के निवासी गुरिया बनाने का व्यवसाय करते रहे होंगे, क्योंकि बहुत सी गुरियाँ इस घर के आँगन के चबूतरे पर मिली हैं। यह आँगन १२ फुट लम्बा तथा ८ फुट चौड़ा है। आँगन में चबूतरे के पास एक भट्ठी बनी हुई है। बरामदे की ओर ही खुलने वाले इस घर में छः कमरे हैं।

लोथल के लगभग सभी घरों में पक्की ईंटों के फर्श वाले एक या दो चबूतरे मिले हैं, जिनका उपयोग स्नान आदि के लिए होता होगा। इन चबूतरों के फर्शों तथा नालियों के अतिरिक्त अन्य सभी स्थानों पर कच्ची ईंटों का ही प्रयोग किया गया है। अतः मोहेनजोदड़ो की अपेक्षा लोथल के घर निर्माण की दृष्टि से निम्नकोटि के हैं। यहाँ के घरों में तीसरे और चौथे काल में बने घर कुछ अच्छे हैं। परवर्ती कालों में गृहों का निर्माण अधिकतर पहले की टूटी-फूटी ईंटों से किया गया।

भट्ठे—रक्षा-प्राचीर के पास एक अन्य छोटा टीला है। १९५५ में इस स्थान पर जो उत्खनन-कार्य हुआ उसमें एक बड़े भट्ठे के अवशेष मिले। यह ५४ फुट लम्बा तथा ४५ फुट चौड़ा है और उसके फर्श की ऊँचाई ४ फुट है। फर्श पर कच्ची ईंटें लगी हैं। कच्ची ईंटों के द्वारा ही उसे १२ आयताकार भागों में विभक्त किया गया। प्रत्येक भाग के बीच में सवा तीन फुट से लेकर पौने चार फुट तक चौड़े लम्बे गलियारे बने हैं, जो परस्पर एक-दूसरे से मिले हैं। भट्ठे की बाहरी ओर मिट्टी का पलस्तर भी है। उसके फर्श की ईंटें कई स्थानों पर, अत्यधिक पकाई से, लाल हैं। बीच-बीच में राख तथा जली हुई लकड़ी के अवशेष मिले हैं, जिससे ज्ञात हुआ है कि यह एक भट्ठा ही था।

१९५७ के उत्खननों के परिणामस्वरूप कुछ भट्ठों के अवशेष लोथल में प्राप्त हुए हैं। इन भट्ठों में मिट्टी के बर्तन, ईंटें, मिट्टी की गुरियाँ आदि पकायी जाती थीं। इस प्रकार के भट्ठों की प्राप्ति लोथल की एक विशेषता है। हड़प्पा तथा मोहेनजोदड़ो में निचले स्तरों से ऐसे भट्ठों के अवशेष नहीं मिले। जो मिले भी हैं वे बाद के युग के हैं, जब सैंधव सभ्यता का पतन आरम्भ हो चुका था।

नालियाँ—लोथल के घरों, चबूतरों आदि के निर्माण में यद्यपि कच्ची ईंटों का प्रयोग किया गया, पर वहाँ भीतर-बाहर की नालियाँ पक्की ईंटों की ही बनायी गयीं। घरों में अधिकांशतः स्नानागारों तथा रसोईघरों में नालियाँ बनायी जाती थीं। उन्हें बाहर की ओर बने हुए गड्ढों से मिला दिया जाता था, जो पानी को सोख लेते थे। ऐसी अनेक नालियों के अवशेष भी प्राप्त हुए हैं जो एक-दूसरे से मिली हुई थीं।[1]

१. इण्डियन आर्केओलॉजी—ए रिव्यू (१९५६-५७), पृष्ठ १५।

लोथल से प्राप्त उक्त अवशेष बड़े महत्व के हैं। वहाँ तथा रंगपुर में किये गये उत्खननों ने यह सिद्ध कर दिया है कि हड़प्पा-संस्कृति का प्रसार गुजरात-काठियावाड़ तक हुआ। लोथल में जहाजों की गोदी का पता चला है, जिससे इस प्राचीन नगर के व्यापारिक महत्व पर तथा समुद्री-यातायात पर प्रभूत प्रकाश पड़ा है।

उक्त चारों स्थानों के अतिरिक्त हड़प्पा-सभ्यता के अवशेष पंजाब, सिन्ध, बलोचिस्तान, राजस्थान, गुजरात तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश के कई क्षेत्रों में मिले हैं। स्थापत्य की दृष्टि से इन स्थानों के अवशिष्ट स्मारकों में साम्य के कई तत्त्व दृष्टिगोचर होते हैं, यद्यपि विभिन्न क्षेत्रों में अन्य बातों की तरह स्थापत्य में भी स्थानीय विशेषताएँ मिलती हैं।

हड़प्पा-संस्कृति के स्थापत्य का विवरण देने के पश्चात् हम कह सकते हैं कि यह स्थापत्य उपयोगिता तथा वास्तु—इन दोनों दृष्टियों से उच्चकोटि का है। मानव-सभ्यता के इतने प्रारम्भिक काल में भवन-निर्माण की परिष्कृत प्रणाली तथा नगर-निर्माण योजना का वैज्ञानिक एवं सुविकसित रूप देखकर आश्चर्य होता है। हड़प्पा-संस्कृति के जनों का ऐहिक जीवन के प्रति अनुराग तथा उसे यथासम्भव व्यवस्थित बनाने का उपक्रम वस्तुतः सराहनीय है। इन नगरों की स्थापत्य-कला के सम्बन्ध में रोलैंड की यह धारणा युक्तिसंगत लगती है कि इन नगरों के निवासियों का जीवन प्राचीन मिस्र तथा मेसो-पोटामिया की राजधानियों के निवासियों के जीवन की अपेक्षा अधिक सुखकर था।[1]

१. बेञ्जामिन रोलैण्ड, दी आर्ट ऐण्ड आर्किटेक्चर ऑफ इण्डिया, पृष्ठ १५।

अध्याय ३

वैदिक वास्तु

भारतीय साहित्य में ऋग्वेद सबसे अधिक प्राचीन है। उसमें स्थापत्य-सम्बन्धी विविध उल्लेख मिलते हैं। उनसे पता चलता है कि ईसवी पूर्व द्वितीय सहस्राब्दी के पहले भारतीयों को भवन-निर्माण की अच्छी जानकारी हो गयी थी। ऋग्वेद के अतिरिक्त यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद में तथा परवर्ती वैदिक साहित्य में ऐसे उल्लेख प्राप्त हैं जो स्थापत्य के विविध अंगों पर प्रकाश डालते हैं। विशेषतः ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में भवन-विन्यास का जो रूप उपलब्ध है उसकी परम्परा भारत में बराबर जारी रही।

वैदिक भवनों के तीन मुख्य अंग थे। पहला भाग गृह-द्वार था, जिसमें सामने का आँगन या अजिर भी सम्मिलित था। दूसरा अंग बैठक थी, जिसके नाम 'सभा' तथा बाद में 'आस्थान मण्डप' मिलते हैं। यहीं आगन्तुकों का स्वागत किया जाता था। तीसरा भाग 'पत्नी-सदन' था, जिसे 'अन्तःपुर' कहा जाता था। आर्य लोग अग्नि-आधान के हेतु भवन में एक कक्ष या आच्छादित स्थान को 'अग्निशाला' के रूप में रखते थे। विहित श्रौत कर्मों के लिए यह अत्यन्त आवश्यक था। बड़े प्रासादों में इस पवित्र स्थान को 'देवगृह' कहा जाने लगा। कालान्तर में भी इसका उपयोग पूजा के कमरे के रूप में होता रहा।

वैदिक साहित्य से पता चलता है कि भवन-निर्माण-कला में सादगी एवं सुरुचि थी। लोगों का जीवन सादा था, अतः निवास-गृहों में आडम्बर या दिखावा आवश्यक न समझा जाता था। सौन्दर्य-बोध वैदिक आर्यों में विद्यमान था, इसका पता ऋग्वेद एवं परवर्ती वैदिक साहित्य से चलता है।

ऋग्वेद (७,३३,१३) में मान तथा वसिष्ठ नामक दो ऋषियों की घड़े से उत्पत्ति की कथा दी है। सायण ने 'मान' को कुम्भज (अगस्त्य) का ही दूसरा नाम माना है। अगस्त्य की उत्पत्ति घड़े से हुई मानी जाती है। बाद के वास्तु-शास्त्रकारों ने अगस्त्य को

वास्तु-विद्या का आचार्य कहा। 'मान' का अर्थ मापन है। हो सकता है कि अगस्त्य का सम्बन्ध वैदिककालीन वास्तु-कला से रहा हो।[1]

ऋग्वेद में कई स्थलों पर 'वास्तोष्पति' नामक देवता का उल्लेख है।[2] गृह-निर्माण के पूर्व इस देवता का आवाहन किया जाता था। एक स्थान (८, १७, १४) पर वास्तोष्पति तथा इन्द्र को तथा अन्यत्र (५, ४१, ८) वास्तोष्पति तथा त्वष्टा को एक ही माना गया है। बाद के वास्तु-साहित्य में त्वष्टा को एक कुशल कारीगर कहा गया है।

भवन-निर्माण में प्रायः बाँसों का तथा अन्य लकड़ी का प्रयोग किया जाता था। ये वस्तुएँ सुगमता से उपलब्ध थीं। आच्छादन के लिए लकड़ी के अतिरिक्त घास-फूस तथा पत्तों का प्रयोग किया जाता था। धीरे-धीरे ईंटों का प्रयोग भी किया जाने लगा। ऋग्वेद में 'अश्ममयी' तथा 'आयसी' दुर्गों के उल्लेख भी मिलते हैं। इनसे पता चलता है कि दुर्गों के निर्माण में पत्थर तथा धातु के उपयोग का पता ऋग्वेद के आर्यों को था।

ग्राम—'ग्राम' शब्द ऋग्वेद तथा अन्य वैदिक साहित्य में बहुत मिलता है। 'ग्राम' वर्तमान गाँव का द्योतक है। कुछ वैदिक ग्राम एक-दूसरे के निकट थे (शतपथ ब्राह्मण, १३,२,४,२)। कुछ दूर-दूर बसे थे तथा सड़कों के द्वारा एक दूसरे से सम्बद्ध थे (छांदोग्य उपनिषद्, ८,६,२)। गाँव प्रायः खुले हुए होते थे। ग्राम बसाते समय कुछ जल और वायु का ध्यान रखा जाता था। बड़े ग्रामों को 'महाग्राम' कहते थे।[3] हैवेल के मतानुसार ये ग्राम आयताकार होते थे तथा उनके चारों ओर एक-एक द्वार होता था।[4]

पर्सी ब्राउन का अनुमान है कि वैदिक ग्रामों के चारों ओर लकड़ी की बाड़ बनायी जाती थी, जैसी कि बाद में जैन-बौद्ध स्तूपों के चारों ओर मिलती है। बाड़ के चारों ओर एक या अधिक तोरण (द्वार) भी बनाये जाते थे।

पुर—'पुर' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद[5] में तथा परवर्ती वैदिक साहित्य[6] में अनेक स्थानों पर मिलता है। परवर्ती संस्कृत साहित्य में यह शब्द नगर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ

१. तारापद भट्टाचार्य, ए स्टडी ऑन वास्तुविद्या, पृष्ठ १३।
२. उदाहरणार्थ ऋग्वेद, ७,५४; ७,५५; ८,१७,१४ आदि।
३. मैकडॉनल तथा कीथ, वैदिक इण्डेक्स, जिल्द १, पृष्ठ २४४-४५।
४. हैवेल, दि हिस्ट्री ऑफ आर्यन रूल इन इण्डिया, पृष्ठ २३-२४।
५. ऋग्वेद १,५३,७; १५८,८; १,१३१,४ आदि।
६. तैत्तिरीय ब्राह्मण, १,७,७,५; ऐतरेय ब्राह्मण १,२३; २,११ आदि।

है। वैदिक साहित्य में 'पुर' का प्रयोग 'दुर्ग', 'गढ़' या 'प्राकार' के लिए भी हुआ है।[१] ऋग्वेद में पुरों पर घेरा डालने तथा उन्हें विनष्ट करने के उल्लेख मिलते हैं। प्रतीत होता है कि उस युग में पुरों की संख्या अधिक रही होगी। उनकी रचना सुगमता से कर ली जाती रही होगी। प्रारम्भ में ये पुर मिट्टी के बनाये जाते रहे होंगे।[२]

उक्त दुर्ग या गढ़ ग्रामों के अन्दर होते होंगे या उनके पास ही। पुरों के अन्दर किसी प्रकार की बस्ती का ठीक पता नहीं चलता। पुर यदि परवर्ती दुर्ग के रूप में प्रयुक्त होते थे तो उनके चारों ओर रक्षा-प्राचीर का निर्माण भी किया जाता रहा होगा। इन पुरों का निर्माण बाढ़ तथा बाहरी आक्रमणों से रक्षा के निमित्त भी होता था। पुरों के लिए एक स्थान पर विशेषण के रूप में 'शारदी' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'शारदी' उन्हें इसीलिए कहा गया होगा कि शरद ऋतु में बाहरी आक्रमणों से पुर की रक्षा हेतु इनका विशेष रूप से उपयोग होता था।

ऋग्वेद में दीवारों वाले पुरों के उल्लेख मिलते हैं।[३] कुछ पुर आकार में बड़े होते होंगे। एक पुर का उल्लेख करते हुए ऋग्वेद में उसे चौड़ा या विस्तृत कहा गया है। पत्थर के बने पुरों (अश्ममयी पुर) का उल्लेख भी ऋग्वेद में मिलता है। कुछ में धातु का भी प्रयोग होता था। बलोचिस्तान, सिन्ध तथा पंजाब में हड़प्पा-पूर्व तथा हड़प्पा-युगीन कई इमारतें मिली हैं, जिनमें पत्थर के प्रयोग का स्पष्ट पता चला है। एक स्थान पर पशुओं से युक्त (गोमती) पुर का भी उल्लेख है। ऐसा प्रतीत होता है कि पशुओं के समूह को एक स्थान पर बाँधने की व्यवस्था भी इन पुरों के भीतर थी।

मैकडानिल तथा कीथ का यह विचार है कि वैदिक पुर मुख्यतः बाह्य आक्रमणों से रक्षा के साधन थे। वे खाई तथा 'शंकु' आदि से सुरक्षित और कड़ी मिट्टी के प्राचीरों से युक्त होते थे।[४]

भारत में अनेक प्राचीन नगर-स्थलों पर किये गये उत्खननों से नगरों की रक्षा-दीवारें प्रकाश में आयी हैं। मध्य प्रदेश के सागर जिले में एरण नामक प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थल की खुदाई में लगभग ई० पू० १९०० में वहाँ प्राकारयुक्त नगर बसने का प्रमाण मिला है। ताम्राश्मयुगीन यह बस्ती एरण में ई० पूर्व ७०० तक कायम रही। नगर की

१. वैदिक इण्डेक्स, जिल्द १, पृष्ठ ५३८।
२. दि वैदिक एज, पृष्ठ ३९८।
३. ऋग्वेद, १,१६६,८; ७,१५,१४।
४. दे० वैदिक इण्डेक्स, जिल्द १, पृष्ठ ५३८-३९।

तीन ओर से फैली हुई रक्षा-दीवार काली-पीली सख्त मिट्टी की बनायी गयी थी। चौथी ओर बीना नदी रक्षा-पंक्ति का काम देती थी। प्राचीनतम रक्षा-दीवार लगभग ३० मीटर चौड़ी थी, बाद में उसकी चौड़ाई ४६.८७ मीटर हो गयी। दीवार की ऊँचाई ६.४१ मीटर पायी गयी। इस दीवार से १६.४७ मीटर की दूरी पर परिखा या खाई थी, जिसमें बीना नदी का जल भरा रहता था। इस खाई की चौड़ाई २६.६० मीटर तथा गहराई ५.४८ मीटर थी।[1]

महाराष्ट्र के दैमाबाद नामक स्थान के उत्खनन में भी नगर-प्राकार मिलता है, जिसका निर्माण एरण के प्राकार के कुछ समय बाद हुआ।

मध्य प्रदेश के खरगोन जिला में १९५२ से १९५७ तक उत्खनन कराये गये। इन उत्खननों में जो सबसे महत्वपूर्ण बात ज्ञात हुई वह है ताम्राश्मयुगीन सभ्यता की जानकारी। यह सभ्यता वहाँ नर्मदा के दोनों तटों पर लगभग ईसवी पूर्व १५०० से ईसवी पूर्व १००० तक विकसित होती रही। इस सभ्यता के लोग झोपड़ीनुमा मिट्टी के घरों में रहते थे। ये घर आकार में चौकोर, गोल या आयताकार होते थे। उनकी छतें सपाट होती थीं। दीवारें तथा छतें घास मिली हुई कड़ी मिट्टी की बनायी जाती थीं। छतों की रोक के लिए बांसों का प्रयोग होता था। दीवारों को सफेद मिट्टी या चूने से पोत दिया जाता था। फर्शों के बनाने में चूना और पीली या काली मिट्टी का इस्तेमाल किया जाता था। घरों के चूल्हों पर भी चूने का पलस्तर होता था।

पिछले पचीस वर्षों में कालीबंगन और अहाड़ (राजस्थान), रूपड़ (पंजाब), बुर्जहोम (काश्मीर), चिरांद (बिहार), कायथा (मध्य प्रदेश), लोथल (गुजरात), नेवासा (महाराष्ट्र), महिषदल (प० बंगाल), उतनूर (आन्ध्र प्रदेश) तथा संगनकल्लु एवं तक्कलकोटा (मैसूर) आदि स्थलों पर जो उत्खनन हुए हैं उनसे प्रागैतिहासिक स्थापत्य पर प्रकाश पड़ा है।

गृह—ऋग्वेद में 'गृह' शब्द निवास अथवा घर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[2] अथर्ववेद तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी इसी अर्थ में गृह शब्द मिलता है।[3] 'दम' 'पस्त्या' तथा 'हर्म्य' शब्दों का भी प्रयोग घर तथा उससे सम्बन्धित पारिवारिक सम्पत्ति के अर्थ में हुआ है।।

१. एरण-उत्खनन के संबंध में विस्तार के लिए दे० कृष्णदत्त वाजपेयी, सागर थ्रू दि एजेज, पृ० २६-३१
२. ऋग्वेद, ३,५३,६; ४,४९,६; ८,१०,१ आदि।
३. अथर्ववेद, ७,८३,१; १०,६,४; ऐतरेय ब्राह्मण, ८, २१ आदि।

वैदिककालीन कुछ गृहों में अनेक कमरे होते थे। घरों को सुरक्षा हेतु बन्द भी किया जा सकता था।[१] घरों को स्वच्छ-सुन्दर बनाने का विचार वैदिक काल से मिलता है। अथर्ववेद में एक स्थान पर गृह की उपमा अलंकृत हथिनी से दी गयी है।[२] हथिनी की पीठ की तरह वैदिक घरों की छतें गोलाकार होती थीं। घरों की बाहरी तथा भीतरी दीवारों पर विविध प्रकार के आकर्षक चित्र बनाये जाते थे। सुन्दर घर की तुलना सुसज्जित वधू से की गयी है।[३] घर को पवित्रता, समृद्धि, सौन्दर्य तथा आनन्द का केन्द्र माना जाता था। शतपथ ब्राह्मण में घर के विभिन्न कक्षों का रोचक वर्णन मिलता है।[४]

ऋग्वेद में निवास-स्थानों तथा उनके विविध उपांगों के लिए लगभग तीस शब्दों का प्रयोग हुआ है। 'छर्दी' शब्द का प्रयोग अनेक स्थानों पर मिलता है, जिसका तात्पर्य सम्भवतः मकान की छत से था। 'दुरोण' तथा 'दुर्यनु' शब्दों से ज्ञात होता है कि वैदिक गृहों में द्वार होते थे। कई स्थानों पर गृहों के लिए 'पृथु', 'साम्प्रथ', 'मांही', 'बृहत्', 'ऊरु', 'दीर्घ', 'गभीर'-जैसे विशेषणों का प्रयोग हुआ है, जिससे कुछ बड़े आकार वाले गृहों का ज्ञान होता है। वरुण के गृह को अत्यन्त विस्तृत एवं सहस्र द्वारों वाला ('सहस्रद्वारम्', ऋ० ७,८८,५) कहा गया है। एक अन्य स्थान पर मित्र एवं वरुण के गृह को दृढ़ (ध्रुव) एवं सहस्र स्तम्भों वाला ('सहस्रस्थूण') कहा गया है। मोद-गृह की तुलना तालाब से की गयी है।

ऋग्वेद में एक स्थान पर पर्जन्य की स्तुति करते हुए उससे 'शरण' एवं 'शर्म' प्रदान करने की प्रार्थना की गयी है। 'शर्म' के लिए 'त्रिधातु' विशेषण का प्रयोग किया गया है। सायण के अनुसार 'शर्म' का अर्थ 'गृह' अथवा 'प्रसन्नता' है। 'त्रिधातु' का अर्थ 'तीन मंजिलों वाला' अथवा 'मानव शरीर के तीन तत्त्व' है। एक अन्य स्थान पर सायण ने 'त्रिधातु' का तात्पर्य 'तीन स्थानों पर निवास' बताया है।[५]

वैदिककालीन कुछ भवन इतने बड़े होते थे कि उनमें बड़े संयुक्त परिवार के लोग रह सकते थे। कुछ मकान कई तलों के होते थे। मुख्य भवन से जुड़ा या उसके समीप पशुओं के लिए बाड़ा (गोष्ठ) होता था। कभी-कभी घर के पीछे आँगन में निजी पशुओं

१. ऋग्वेद, ७,८५,६।
२. अथर्व०, ९,३,१७।
३. अथर्व०, ९,३,२४।
४. शतपथ०, ३,५,१,११।
५. डे० भट्टाचार्य, वही, पृष्ठ १७-१८।

का स्थान रहता था। घर का एक भाग अग्नि (गार्हपत्य) के लिए सुरक्षित रखा जाता था। तैत्तरीय आरण्यक में 'धनशाली' शब्द मिलता है।[1] वह एक विशेष प्रकार का कक्ष रहता होगा जिसका उपयोग 'कोषागार' के रूप में होता होगा। अथर्ववेद में 'पत्नीनां सदन' का उल्लेख है, जिससे गृहों में स्त्रियों के विशेष कक्ष का बोध होता है।[2]

वैदिककालीन गृहों के निर्माण में किन पदार्थों का प्रयोग होता था, इस विषय में वैदिक साहित्य में मनोरंजक उल्लेख प्राप्त होते हैं। प्रायः मिट्टी, पत्थर, लकड़ी तथा बाँसों का प्रयोग गृह-निर्माण में होता था। घरों की नींवें बहुत दृढ़ ('ध्रुव') बनायी जाती थीं। दीवारों के ऊपर पहले कोरे बाँस आड़े-तिरछे बिछा दिये जाते थे। उनके ऊपर चीरे हुए बाँसों को रखा जाता था। फिर मजबूत रस्सियों से वे कस दिये जाते थे, जिससे छत पर की बिछावन हिले-डुले नहीं। बाँसों की यह बिछावन 'आयाम' कहलाती थी। उसपर तृण तथा पत्तों की तहें बिछायी जाती थीं। इन तहों को 'बर्हण' कहते थे। इस बिछावन के ऊपर बाँस की खपच्चियों की तह लगायी जाती थी। उसे भी मजबूती से बाँधते थे। इस प्रकार छत तैयार हो जाती थी। बड़ी छतों को सँभालने के लिए नीचे मोटी थूनियाँ या बल्लियाँ लगायी जाती थीं। सरपत, कास आदि की पतवार से छाये गये घर आज तक भारत के विभिन्न भागों में बनते हैं।

ऋग्वेद में त्वष्टा तथा ऋभु को कुशल कारीगर बताया गया है। उन्होंने इन्द्र के लिए कई वस्तुओं का निर्माण किया। इनमें तीक्ष्ण वज्र भी था।[3] वैदिक 'तक्ष' शब्द से 'तक्षक' बना। इस शब्द का प्रयोग ऐसे व्यक्ति के लिए किया गया जो लकड़ी, पत्थर या ईंटों को भवन-निर्माण हेतु मोटे या पतले आकार में काटता था। वैदिक युग में और उसके बाद लकड़ी ही प्रायः भवन-निर्माण-कार्य के लिए प्रयुक्त होती थी, यद्यपि अन्य पदार्थों का प्रयोग भी कुछ सीमा तक होता था।[4]

पर्सी ब्राउन ने वैदिक गृहों की अनुमानित रूपरेखा प्रस्तुत की है। उनके अनुसार प्रारम्भिक अवस्था में वैदिक गृह झोंपड़ियों या पर्णशालाओं के रूप में थे। ये झोंपड़ियाँ विभिन्न आकृतियों की होती रही होंगी। आरम्भ में मानव की रुचि गोल आकार की ओर अधिक थी, अतः ब्राउन के अनुसार वैदिक झोंपड़ियों का आकार भी गोल रहा होगा।

१. तैत्तरीय आरण्यक, १०,६७।
२. तारापद भट्टाचार्य 'ए स्टडी ऑन वास्तु विद्या', पृष्ठ १३-१४।
३. ऋग्वेद, १,३२,२।
४. दि वैदिक एज, पृष्ठ ४६२।

वैदिक झोंपड़ियाँ मधु-मक्खियों के छत्तों-जैसी थीं। उनकी दीवारें गोल थीं, जिनका निर्माण बाँसों को लचीली टहनियों से बाँधकर किया जाता था। इन गोल दीवारों के ऊपर पत्तों की सहायता से गुम्बदाकार छत बनायी जाती थी अथवा उनके ऊपर घास का छप्पर बनाया जाता था। बाराबर की पहाड़ी में सुदामा नामक गुफा इस प्रकार की झोंपड़ियों का सुन्दर नमूना है। उसमें बाँसों की झोंपड़ी के स्वरूप को पत्थर पर ज्यों का त्यों बनाने का प्रयत्न किया गया है। बाद में जब इस प्रकार की झोंपड़ियों का स्वरूप विकसित हुआ तो उन्हें गोल न बनाकर आयताकार बनाया जाने लगा। अब उनके ऊपर मुड़े बाँसों को डालकर ढोलाकार छप्पर बनाने लगे। इसके बाद जो स्थिति आयी उसमें तीन-चार झोंपड़ियों को पास-पास बनाकर उनके बीच एक आँगन-सा निकाला जाने लगा। उनकी छत क्रमशः लकड़ी के तख्तों या खपरैलों की बनायी जाने लगी। गृहों का निर्माण सुन्दर होने लगा। घरों की दीवारें प्रायः कच्ची ईंटों की बनायी जाती थीं। उनमें चौकोर दरवाजे भी बनाये जाने लगे और दो किवाड़ों के लगाने का भी प्रचलन हुआ। ढोल के आकार की छतों से ही आगे चलकर 'अश्व-नाल' आकार वाले चाप का विकास हुआ।[1]

पर्सी ब्राउन का यह विचार युक्तिसंगत है कि भारतीय स्थापत्य वैदिक युग में विभिन्न चरणों से गुजरते हुए विकसित हो रहा था। वस्तुतः वास्तु-तकनीक का जो रूप हमें उत्तर-वैदिक युग में मिलता है उसने परवर्ती भारतीय स्थापत्य को बहुत प्रभावित किया।

वेदिका तथा तोरण—मौर्य, शुंग तथा शक-सातवाहनों के शासन में स्तूप के चारों ओर वेष्टनी या वेदिका का निर्माण किया जाने लगा, जिसके प्रवेश-स्थानों पर अलंकृत तोरण-द्वार बनाये जाते थे। भारतीय वास्तु के इस तत्त्व का स्रोत हमें वैदिक साहित्य में मिलता है। वैदिक काल में भवनों, पवित्र स्थलों, वृक्षों आदि की रक्षा-हेतु उन्हें चारों ओर से वेष्टित कर देते थे। इसके लिए लकड़ी के सीधे खम्भों (थम) को भूमि पर गाड़ देते थे। फिर लकड़ी या बाँस को उनसे आड़ा बाँधकर घेरा या बाड़ बना देते थे। यही बाड़, वेष्टनी या वेदिका कहलायी। बाड़ में प्रवेश के लिए अधिक द्वार बनाये जाते थे। इसके लिए आरम्भ में दो बड़े-बड़े बाँसों को कुछ अन्तर से जमीन में गाड़ दिया जाता था। उनके ऊपर, द्वार का रूप देने के लिए, एक या अधिक बाँस आड़े बाँध दिये जाते थे। इस प्रकार के द्वार ने ही बाद में अलंकृत तोरणों के स्वरूप-निर्धारण में योग दिया।

१. दे० पर्सी ब्राउन, इंडियन आर्किटेक्चर (बुधिस्ट ऐंड हिंदू), पृ० ३-४।

यूप—वैदिक साहित्य में 'स्कम्भ' (स्तम्भ) तथा 'यूप' शब्द खम्भों के लिए मिलते हैं। ऋग्वेद में इन्द्र को सर्वोत्तम स्तम्भ वाला देव कहा गया है।[1] यूप का विशेष धार्मिक महत्त्व था। यूप को भूमि पर खड़ा करने के पूर्व उसकी स्तुति में कुछ मन्त्रों का उच्चारण किया जाता था। इन मन्त्रों से यूप के आकार आदि के विषय में कुछ बातें ज्ञात होती हैं। उसकी 'वनस्पति' संज्ञा इस बात को द्योतित करती है कि यूप-निर्माण हेतु लकड़ी किसी पेड़ से ली जाती थी। यूप की स्थापना अग्नि की वेदी (चिति) के पूर्व की ओर की जाती थी। ब्राह्मण-ग्रन्थों में यूपों की ऊँचाई आदि के विषय में भी उल्लेख मिलते हैं, जिससे ज्ञात होता है कि यूपों की नाप आदि के सम्बन्ध में निर्धारित नियमों का विधिवत् पालन किया जाता था। एक से अधिक यूप को पंक्तिबद्ध स्थापित किया जाता था। यूप के ऊपर पुष्प-मालाएँ टाँगी जाती थीं। निचले भाग में लकड़ी के छीले हुए छोटे-छोटे टुकड़ों को रस्सी से बाँध दिया जाता था। यूप के शीर्ष ('चषाल') को कुछ वक्र रखते थे। इस 'चषाल' से परवर्ती पाषाण-यूपों का स्वरूप निर्धारित हुआ। ब्राह्मण-ग्रन्थों में आठ पहल वाले यूपों के उल्लेख हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इन्हीं यूपों से बाद में आठ किनारों वाले तथा अन्य प्रकार के प्रस्तर-स्तम्भों का विकास हुआ। मथुरा नगर के सामने यमुना तट पर स्थित ईसापुर नामक गाँव से पत्थर के दो विशाल यूप-स्तम्भ मिले थे, जो अठपहलू हैं। उनमें से एक पर कुषाण-शासक वासिष्क के समय का ब्राह्मी लेख उत्कीर्ण है। इस लेख से पता चलता है कि शक सं० २८ (१०६ ई०) में, उक्त स्थल पर 'द्वादशरात्र' नामक वैदिक यज्ञ किया गया था।[2] ऋग्वेद तथा परवर्ती वैदिक साहित्य में यूप के विशेष प्रकार के उल्लेख मिलते हैं। ऐसे यूपों में उन पशुओं को बाँधा जाता था जिनकी यज्ञ में बलि दी जाती थी।[3]

वैदिक यूपों की परम्परा एक दीर्घकाल तक मिलती है। गुप्त-काल तथा उसके पहले के अनेक यूप भारत के विभिन्न स्थानों (मथुरा, नान्दसा, कोटा, बड़वा आदि) से मिले हैं। इनमें से कुछ पर उत्कीर्ण लेखों से पता चलता है कि वैदिक यज्ञ लम्बे समय तक जारी रहे। अयोध्या, कौशाम्बी आदि के बहुसंख्यक जनपदीय सिक्कों तथा समुद्रगुप्त और कुमारगुप्त प्रथम के सिक्कों पर भी यूप के अंकन मिलते हैं।

१. ऋग्वेद, १०,११,१५।
२. आरकेओलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट्स १९०६-७, पृष्ठ ११९ तथा आगे; वाजपेयी, ब्रज का इतिहास, भाग २, पृ० २९।
३. वैदिक इण्डेक्स जिल्द २, पृष्ठ १९४।

कृष्ण-यजुर्वेद में यूप से सम्बन्धित अनेक ऋचाएँ हैं। एक ऋचा (६,३,४) में कहा गया है कि यूप का "जो भाग भूमि के अन्दर गड़ा होता है वह पितरों का होता है। भूमि के ऊपर मेखला तक का भाग मनुष्यों का, मेखला वाला भाग पौधों का, मेखला के ऊपर एवं शीर्ष के नीचे का भाग सभी देवताओं का होता है, शीर्ष इन्द्र का होता है, तथा शेष साध्यों का होता है।" इस प्रकार की मान्यता ने स्तम्भों पर पितरों, मनुष्यों, पौधों, देवताओं आदि के चित्रों या प्रतीकों को उत्कीर्ण करने की प्रथा को जन्म दिया होगा। विभिन्न प्राचीन स्थलों से प्राप्त बहुसंख्यक स्तम्भों पर विविध प्रतीक उत्कीर्ण मिलते हैं।

वेदी—ऋग्वेद में एक ऋचा (१०,११४,३) में वेदी का जो विवरण दिया हुआ है उससे ज्ञात होता है कि वेदी वर्गाकार बनायी जाती थी। इस ऋचा में प्रयुक्त 'सुपर्ण' शब्द वैदिक तथा परवर्ती युगों में प्रचलित इस प्रथा की ओर संकेत करता है कि प्रशस्त वेदी गरुड़ के आकार की ('श्येनचिति') होनी चाहिए।

शतपथ ब्राह्मण (१,२,५) में वेदी का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उसे पूर्व की ओर तीन बालिश्त लम्बी बनाना चाहिए। पश्चिम की ओर उसकी चौड़ाई अधिक तथा बीच में उसका आकार सँकरा होना चाहिए। इसका कारण बताते हुए कहा है कि ऐसे आकार वाली स्त्री प्रशंसनीय होती है।

चिति—चिति से अभिप्राय उन वेदियों से है जिनमें अग्नि प्रज्वलित रखी जाती थी। शतपथ ब्राह्मण (८,१) में एक चिति का वर्णन है, जिसका निर्माण ईंटों से किया गया था। चिति के निर्माण में पहले कच्ची ईंटें प्रयोग में लायी जाती थीं। धीरे-धीरे ईंटों के पकाने का ज्ञान हुआ होगा।

श्मशान—वैदिक साहित्य में श्मशान के उल्लेख मिलते हैं।[1] अथर्ववेद में यह शब्द कई स्थानों पर आया है।[2] श्मशान उस समाधि का द्योतक था जिसके नीचे मृत व्यक्तियों की अस्थियों को रखा जाता था। शतपथ ब्राह्मण (१३,८,१,१) में इस शब्द का प्रयोग 'शवान्न' (शव का भोजन) अथवा 'श्मशान्न' (पितरों का भोजन) के हेतु किया गया है। यास्क ने 'निरुक्त' (३,५) में इस शब्द का अर्थ 'शव-शयन' (मृत का विश्राम-स्थल) बताया है। वेबर के मतानुसार इसका तात्पर्य 'अश्मन्-शयन' (पत्थर का बना विश्राम-स्थल) है।[3] यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि आरम्भ में 'श्मशान' के निर्माण

१. मैकडानल तथा कीथ, वैदिक इण्डेक्स, जिल्द २, पृ० १८७।
२. अथर्ववेद, २,११,१७; ८,३३,६; १०,२३,१ आदि।
३. देखिए बेनीमाधव बरुआ, भरहुत, जिल्द ३, पृ० १६ तथा आगे।

में पत्थर का प्रयोग किया जाता था या नहीं। भारत के अनेक स्थानों में जो महाश्म-चितियाँ (मेगालिथ) मिली हैं उन्हें श्मशान का ही रूप कहा जा सकता है।

शतपथ ब्राह्मण में श्मशान निर्माण-सम्बन्धी कुछ नियम दिये हैं।[1] श्मशान का निर्माण वस्तुतः मृत व्यक्ति हेतु शान्ति-स्थल की रचना या स्मारक बनाना होता था। इसके लिए ऐसे स्थान को चुना जाता था जो सुन्दर और शान्त हो तथा बस्ती से दूर हो। ऊसरों पर या ऐसे स्थानों पर जो ग्राम या बस्ती के अत्यन्त निकट होते, ऐसा निर्माण उपयुक्त नहीं समझा जाता था। स्थल की मिट्टी के बारे में कहा है कि वह ऐसी होनी चाहिए जिसमें घास-पौधे आदि उगते हों। पास में अश्वत्थ या न्यग्रोध का वृक्ष होना प्रशस्त माना जाता था। श्मशान को ठीक उत्तर-दक्षिण या पूर्व-पश्चिम अभिमुख न रखकर उसे विभिन्न दिशाओं के कोनों में रखा जाता था। प्रायः सिर की ओर के भाग को दक्षिण-पूर्व की ओर रखा जाता था।[2]

अग्निचित् (वेदी-निर्माता) श्मशान का आकार अग्नि की शिखा-जैसी आकृति वाला बनाता था। उसकी लम्बाई-चौड़ाई मृत व्यक्ति के आकार से कुछ ही बड़ी होती थी। शव अथवा अस्थियों को समाधिस्थ करने के लिए जो गड्ढा खोदा जाता था उसकी गहराई लगभग उतनी ही रखी जाती थी जितनी कि उसके ऊपर बनने वाले टीले की ऊँचाई निर्धारित होती थी। कालान्तर में विभिन्न वर्णों के लोगों के लिए विभिन्न प्रकार की ऊँचाइयाँ विहित मानी गयीं।

श्मशान-निर्माण करते समय पहले मृत व्यक्ति की अस्थियों को शरीर-रचना के अनुसार यथास्थान रखा जाता था। फिर अस्थियों के ऊपर तेरह ईंटें रखी जाती थीं। उनमें से एक ईंट बीच में रखी जाती, शेष ईंटों को चारों ओर तीन-तीन के वर्ग में मिलाकर रखा जाता था। फिर ऊपर मिट्टी का तूदा या टीला बना दिया जाता था। उस पर यव के दाने बो दिये जाते थे, या दूर्वा लगा दी जाती थी। इसी तूदे का परिवर्तित रूप परवर्ती बौद्ध एवं जैन स्तूपों में देखने को मिलता है।

१. शतपथ ब्राह्मण, १३.८, १-४।
२. बरुआ, वही, जिल्द १, पृष्ठ १७।

अध्याय ४

प्राक्-मौर्य तथा मौर्यकाल

महात्मा बुद्ध तथा तीर्थंकर महावीर के प्रादुर्भाव से भारतीय इतिहास में एक नये युग का आरम्भ होता है। धर्म और दर्शन के क्षेत्र में ही नहीं, ललित कलाओं तथा लोकजीवन में भी अब परिवर्तन के लक्षण स्पष्ट दिखायी पड़ने लगते हैं। ई० पू० छठी शती से साहित्यिक तथा पुरातात्त्विक दोनों प्रकार के इतिहास-साधन अधिक परिमाण में उपलब्ध होने लगते हैं। मौर्ययुग में हम और अधिक स्थिर भूमि पर आ जाते हैं। इन सबके आधार पर विवेच्य युग के स्थापत्य को समझने में पूर्ववर्ती युगों की अपेक्षा सुविधा प्राप्त होती है।

साहित्यिक साधनों में पाणिनि की अष्टाध्यायी, वाल्मीकीय रामायण, महाभारत, बौद्ध जातक तथा अर्थशास्त्र विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। पुरातात्त्विक साक्ष्यों में राजगृह, लौरिया-नन्दनगढ़ आदि के प्राचीन स्मारकों, कुम्रहार, वैशाली, श्रावस्ती, कौशाम्बी आदि के उत्खननों से प्राप्त अवशेष, तथा सम्राट् अशोक द्वारा बनवाये गये स्तम्भ, स्तूप एवं गुफाएँ उल्लेखनीय हैं। मेगस्थनीज तथा कुछ यूनानी यात्रियों के विवरण भी रोचक सामग्री प्रदान करते हैं।

इस युग के स्थापत्य का महत्त्व इसलिए विशेष है कि अब इमारतों के निर्माण में पत्थर और ईंट का प्रयोग अधिक होने लगा। सैन्धव युग में उनका उपयोग सीमित रूप में होता था। वैदिक युग में, जैसा पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं, इमारतों के निर्माण में प्रायः लकड़ी या बाँसों का प्रयोग होता था। विवेच्यकाल में यद्यपि इमारतों के लिए लकड़ी प्रयुक्त होती रही, किन्तु उसके साथ उन्हें स्थायित्व प्रदान करने के लिए पत्थर और ईंट का भी इस्तेमाल होने लगा। राजगृह की विशाल रक्षा-प्राचीरों का निर्माण बड़े-बड़े पत्थरों से किया गया। हाल में कौशाम्बी के उत्खनन से भी मौर्यकाल के पूर्व की रक्षा-दीवार के अंश निकले हैं, जो गढ़े हुए पत्थरों के बने हैं। सम्राट् अशोक के प्रस्तर-स्तम्भ अपनी उत्कृष्ट कला के कारण विख्यात हैं।

इस युग में बौद्ध एवं जैन धर्मों के विकास के साथ-साथ वास्तु कला का भी विकास हुआ। मौर्य सम्राट् अशोक ने जब बौद्ध धर्म को अपनाकर उसके व्यापक प्रसार के प्रयत्न किये तब स्थापत्य और मूर्तिकला की उन्नति द्रुतगति से हुई। इस प्रकार स्थापत्य के विकास में धर्म का योग विशेष रूप से इस युग से, आरम्भ हुआ, जो परवर्ती युगों में भी जारी रहा।

अध्ययन की सुविधा के लिए प्राक्-मौर्य कालीन तथा मौर्यकालीन स्थापत्य का विवरण यहाँ क्रमशः प्रस्तुत किया जायगा।

प्राक्-मौर्यकालीन वास्तु

(ई० पू० ६००—ई० पू० ३२५)

प्राक्-मौर्य काल के अनेक अवशेष विभिन्न स्थानों पर मिले हैं। साथ ही अनेक ग्रन्थों में इस युग के स्थापत्य के स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है। इन ग्रन्थों के कुछ सन्दर्भों का संक्षिप्त उल्लेख यहाँ किया जाता है:

अष्टाध्यायी—प्रसिद्ध व्याकरण-ग्रन्थ 'अष्टाध्यायी' की रचना पाणिनि द्वारा ई० पूर्व पाँचवीं शती में की गयी। इस ग्रन्थ में कापिशी, तक्षशिला, हास्तिनपुर, सांकाश्य, काम्पिल्य आदि कई प्रमुख नगरों का उल्लेख मिलता है।[1] प्रतीत होता है कि पाणिनि के समय तक वास्तु-विद्या तथा नगर-योजना में पर्याप्त प्रगति हो चुकी थी। नगर के निर्माण के पूर्व जिन-जिन स्थानों पर खाई (परिखा), रक्षा-प्राचीर, द्वार या राजप्रासाद बनाने होते थे उन-उन स्थानों पर चिह्न लगा दिये जाते थे। इनका निर्माण यथाक्रम किया जाता था।

'अष्टाध्यायी' में 'प्राकार' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। किन्तु कात्यायन ने 'प्राकारीय देश' (वह भूमि जिस पर प्राकार का निर्माण किया जाय) तथा 'प्राकारीय इष्टका' (प्राकार-निर्माण में प्रयुक्त ईंटें)—जैसे शब्दों का प्रयोग किया है। पाणिनि ने 'देवपथ' शब्द का प्रयोग किया है। 'अर्थशास्त्र' के तुलनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि देवपथ उस प्रशस्त ऊँचे मार्ग को कहते थे, जो रक्षा-प्राचीर के ऊपर कंगूरों के पीछे निर्मित किया जाता था।[2]

१. वासुदेवशरण अग्रवाल, पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ८४-८८।
२. वही, पृ० १४४-४५।

रक्षा-प्राचीरों के बीच में द्वार भी होते थे। पाणिनि ने इनके नामकरण के विषय में इस प्रकार लिखा है : "अभिनिष्क्रामति द्वारम्" (अष्टा० ४,३,८६)। अर्थात् द्वार का नामकरण उस नगर के नाम पर होना चाहिए जिसकी ओर वह खुलता हो। उदाहरणार्थ, 'माथुरं कान्यकुब्जद्वारम्'; यह नाम कान्यकुब्ज नगर के उस द्वार को दिया जाना चाहिए जो मथुरा नगर की ओर अभिमुख हो।[1] यह परम्परा भारत में अठारहवीं शती तक जारी रही।

रक्षा-प्राचीरों, नगर-द्वारों तथा बड़े प्रासादों के अतिरिक्त नगर में अन्य कई प्रकार की इमारतें भी होती थीं। उनमें से कुछ का ज्ञान पाणिनि द्वारा प्रयुक्त 'कोष्ठागार', 'भण्डागार' (४,४,७०), 'राज-सभा', 'आपण' (३,३,११६)—जैसे शब्दों से होता है। सड़कों के लिए पाणिनि ने 'संचर' (३,३,११६) शब्द का प्रयोग किया है।

ग्रामों के गृह (कुटीर) लकड़ी के खम्भों तथा घास-फूस ('छादिषेय तृण'–५,१,१३) से बनाये जाते थे।

रामायण—वाल्मीकीय रामायण के मुख्य भाग का रचना-काल ई० पूर्व ५०० के लगभग माना जाता है। इस ग्रन्थ के कुछ अंश इस काल के बहुत बाद में जोड़े गये। इस ग्रन्थ में 'स्थपति', 'वर्धकि', 'तक्षक', 'सूत्रधार' आदि शब्द मिलते हैं। भारतीय वास्तुशास्त्रों में इन शब्दों का प्रयोग विभिन्न कोटियों के कारीगरों के लिए किया गया है। रामायण में 'अनेक भूमि' (४,३३) 'सप्तभूमि' (५,२,४६) प्रभृति शब्दों से अनेक मंजिल वाले भवनों का पता चलता है। भवनों को उनकी विशेषताओं के आधार पर भिन्न-भिन्न कोटियों के अन्तर्गत रखा जाता था, यथा—चतुःशाला, पद्म, स्वस्तिक, वर्धमान आदि। इसी प्रकार 'प्रासाद', 'विमान', 'हर्म्य', 'सौध' आदि शब्दों का प्रयोग विभिन्न प्रकार के राजप्रासादों के लिए हुआ है।

वाल्मीकि रामायण में हमें चार प्रकार के दुर्गों का उल्लेख मिलता है : (१) नादेय (नदी दुर्ग), (२) पार्वत्य (गिरि दुर्ग), (३) वन्य (वन दुर्ग), तथा (४) कृत्रिम (मानव निर्मित दुर्ग)।[2] अयोध्या, किष्किन्धा, लंका-जैसे नगरों के वर्णनों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि नगरों, दुर्गों तथा अन्तःपुरों की रक्षा हेतु दृढ़ रक्षा-प्राचीरों का निर्माण किया जाता था। उनके चारों ओर गहरी खाइयाँ खोदी जाती थीं। नगरों के चारों

१. वही, पृ० १४५।
२. रामायण, ६, ३।

और द्वार (गोपुर) बनाये जाते थे। रक्षा-प्राचीरों के ऊपर बुर्ज (अट्टालक) बनते थे। उनके ऊपर से शत्रुओं की गतिविधियों का निरीक्षण किया जा सकता था।[1]

राज-प्रासादों की सबसे ऊपर की मंजिल पर शिखरों, शृंगों एवं चन्द्रशालाओं का निर्माण किया जाता था। प्रासादों में झरोखे तथा खिड़कियाँ होती थीं। कुछ खिड़कियों में सोने की जालियाँ (हेम-जाल) लगायी जाती थीं। प्रासादों को अलंकृत करने के लिए उनमें बाहर की ओर विभिन्न प्रकार की मूर्तियाँ उकेरी जाती थीं। रावण का राज-प्रासाद चिड़ियों, सर्पों, अश्वों आदि की रत्नजटित प्रतिमाओं से अलंकृत कहा गया है।[2]

साधारण भवनों तथा प्रासादों के अतिरिक्त रामायण में 'चैत्य', 'देवायतन', 'यूप' प्रभृति शब्दों का उल्लेख हुआ है। 'सभा' (सभाशाला) का विवरण भी मिलता है। उनका सम्बन्ध विशिष्ट तथा सामान्य जन, दोनों वर्गों के धार्मिक जीवन से था।

रामायण में गृहों एवं प्रासादों के वर्णन में कहीं-कहीं अतिशयोक्ति मिलती है। रत्न-जटित खिड़कियों, चमकीली फर्शों तथा सोने-चाँदी की दीवारों के विवरण अनेक स्थलों पर मिलते हैं। इससे यह कहना कठिन है कि निर्माण-कार्य के लिए किस सामग्री का प्रयोग किया जाता था। सभा-भवनों तथा वेदिकाओं के निर्माण में ईंटों का प्रयोग होता था। कुछ भवन पत्थर के बने (शिलागृह) होते थे।[3] स्तम्भों के निर्माण में भी पत्थर का इस्तेमाल होता था।[4]

महाभारत—वर्तमान रूप में उपलब्ध महाभारत को विद्वान् ई० दूसरी शती में पूर्ण हुआ मानते हैं। इसके कुछ अंशों को विभिन्न युग में रचित कहा जा सकता है। महाभारत के अनेक सन्दर्भों से प्राचीन भारतीय स्थापत्य पर प्रभूत प्रकाश पड़ता है। इस युग तक 'वास्तु विद्या' का पर्याप्त विकास हो चुका था।[5] विश्वकर्मा तथा मय के नामों का उल्लेख क्रमशः देवताओं तथा दानवों के कुशल कारीगरों के रूप में मिलता है। इन्द्रप्रस्थ नगर के सम्बन्ध में जो विस्तृत विवरण महाभारत में[6] मिलते हैं वे नगर-निर्माण योजना पर अच्छा प्रकाश डालते हैं।

१. तारापद भट्टाचार्य, वही, पृष्ठ ३७-३८।
२. रामायण, ५,७,१२ तथा १४।
३. वही, ५,१४ तथा ४१।
४. वही, ७,१६।
५. महाभारत, १,५१,१५।
६. आदिपर्व, १९९,२७-३१।

महाभारत में छह प्रकार के दुर्गों का उल्लेख हुआ है : (१) धन्व दुर्ग, (२) मही दुर्ग, (३) गिरि दुर्ग, (४) मानुष्य दुर्ग, (५) मृद् दुर्ग तथा (६) वन दुर्ग। इस ग्रन्थ में उदक दुर्ग का उल्लेख नहीं मिलता। दुर्गों की ही भाँति लक्षणों के आधार पर वर्गीकृत विभिन्न प्रकार के गृहों के नाम हमें महाभारत में मिलते हैं।

सुरक्षा की दृष्टि से दुर्गों के चारों ओर रक्षा-प्राचीर (प्राकार) का निर्माण किया जाता था और दुर्गों तथा नगरों के चारों ओर गहरी खाइयाँ (परिखा) खोदी जाती थीं, जिनमें जल भरा रहता था। अतिरिक्त सुरक्षा की दृष्टि से इन खाइयों में घातक जल-जन्तुओं को भी रखा जाता था। एक नगर की चौड़ी खाई की तुलना सागर से की गयी है।[1]

पालि साहित्य—बौद्ध जातकों तथा अन्य कतिपय पालि ग्रन्थों में स्थापत्य-विषयक रोचक विवरण मिलते हैं। 'दीघ निकाय' ग्रन्थ में २५ मुख्य शिल्पों की चर्चा है। ऐसी दूसरी सूची 'ब्रह्मजाल सुत्त' में है, जिसमें एक विषय 'वत्थु-विज्जा' (वास्तु-विद्या) दिया है। इस शास्त्र के अन्तर्गत 'वत्थु कम्म' (इमारतों का निर्माण) तथा 'वत्थु-परिकम्म' (मूर्तियों, चित्रों आदि से अलंकरण) थे। 'दीघनिकाय' के महासुदस्सन सुत्त में चक्रवर्ती शासक का भव्य प्रासाद वर्णित है, जो ८४,००० स्तम्भों तथा अन्य अनेक उपांगों से सुसज्जित कहा गया है। इस ग्रन्थ के महापरिनिब्बाण सुत्त में पाटलिपुत्र नगर की निर्माण-योजना वर्णित है।

महाउम्मग्ग नामक जातक में गंगा-तट पर निर्मित राज-प्रासाद का रोचक विवरण उपलब्ध है। यह प्रासाद अत्यन्त विशाल था और इसके चारों ओर प्राकार तथा परिखा निर्मित थे। प्राकार की ऊँचाई २७ फुट थी और उसके द्वार यन्त्रयुक्त थे। इस जातक में महल के कमरों का भी विस्तृत विवरण दिया है। गंगा-तटवर्ती इस नगर में ८० महाद्वार और ६० छोटे द्वार थे। महाउम्मग्ग नामक प्रासाद में कुशल चित्रकारों द्वारा विविध प्रकार की चित्रकारी की गयी थी। इन चित्रों में प्रतीकों के रूप में सूर्य, चन्द्र, सागर, हिमवंत, महाद्वीप, देवसभा आदि का चित्रण था। जातक-कथा के अनुसार पूरे नगर का निर्माण ३०० बढ़इयों द्वारा किया गया था।

जातकों में अन्य अनेक प्रासादों के उल्लेख हैं। उन्हें 'विमान', 'राजभवन', 'वासघर' आदि भी कहा गया है, जिनमें स्तम्भ, कूटागार, किंकिणी-जाल, ध्वज, उद्यान, पुष्करिणी, सुधर्मा-सभा आदि थी। एक या अनेक मंजिल के होने के कारण प्रासादों की संज्ञा एक-

१. वही, १,२०७,३० ।

भूमिक, द्विभूमिक, नवभूमिक आदि थी। साधारणतया प्रासाद तीन मंजिलों वाले होते थे।[1]

जातकों में बांस और घास-फूस की बनी पर्णशालाओं के उल्लेख आये हैं।[2] इन पर्णशालाओं के रूप हमें सांची, भरहुत, मथुरा आदि की मूर्तिकला में देखने को मिलते हैं। जातक-ग्रन्थों में ईंटों और पत्थरों के बने हुए गृह भवनों की भी चर्चा मिलती है।

जातकों में 'देवकुल' तथा 'चैत्य' शब्द भी मिलते हैं। ये शब्द मन्दिरों या पूजा-स्थलों के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

विवेच्य काल में बढ़ई का व्यवसाय बहुत उन्नत हो गया था। जातकों में बढ़इयों के गाँवों के उल्लेख मिलते हैं। कई कथाओं में बढ़ई के द्वारा ही सम्पूर्ण गृह अथवा उसके अधिकांश के निर्माण की चर्चा है।[3] साधारण नागरिकों तथा ग्रामवासियों के मकानों में मिट्टी, लकड़ी और तृण-पत्रों का प्रयोग होता है। ईंटों के बने भवनों के उल्लेख मिलते हैं। स्तम्भों के निर्माण में पत्थर का भी इस्तेमाल होता था।

स्मारक

प्राक्-मौर्यकाल के कुछ स्मारक राजगिरि, लौरिया-नन्दनगढ़ आदि स्थानों में प्राप्त हुए हैं। इनका संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जाता है।

राजगिरि : आधुनिक राजगिरि (जिला पटना) का प्राचीन नाम राजगृह था। प्राक्-मौर्य काल में यहाँ मगध की राजधानी थी। यह नगर पाँच पहाड़ियों के बीच में स्थित था। जैन ग्रन्थ 'विविध तीर्थकल्प' में इन पहाड़ियों के नाम इस प्रकार दिये हैं: (१) विपुल गिरि (उत्तर), (२) रत्नगिरि (पूर्व), (३) उदयगिरि (दक्षिण-पूर्व), (४) सोनगिरि (दक्षिण-पश्चिम) तथा (५) वैभारगिरि (पश्चिम)। इस प्रकार प्रकृति द्वारा यह चारों ओर से सुरक्षित था। जहाँ प्राकृतिक पहाड़ियाँ नहीं थीं वहाँ बड़े-बड़े पत्थरों से सुदृढ़ प्राचीर का निर्माण किया गया था। राजगृह की विशालकाय प्रस्तर प्राचीर प्रसिद्ध है। जिन बड़े-बड़े प्रस्तर-खण्डों से इसका निर्माण किया गया उनकी लम्बाई ३ फुट से ५ फुट तक है। उनके बीच-बीच में छोटे-छोटे पत्थरों को भी लगाया गया है। जुड़ाई में कहीं पर गारे का प्रयोग नहीं है। कुछ स्थानों पर दीवारों

१. विस्तार के लिए द्रष्टव्य—वासुदेवशरण अग्रवाल, इंडियन आर्ट, पृष्ठ ५८-६६।
२. जातक, संख्या ४८९।
३. वही, संख्या ११,१२१,३२६,४१८,४६५,४६६ आदि।

की ऊँचाई १२ फुट तक है। उनमें बीच-बीच में द्वार भी रहे होंगे। दो भग्नावशिष्ट द्वार आज भी विद्यमान हैं।

बाहरी विस्तृत प्राकार के भीतर साढ़े चार मील की परिधि की एक अन्य दीवार भी थी। उसका निर्माण पुलिन मिट्टी और ईंटों से किया गया था।

वैभारगिरि के पूर्वी ढाल पर पत्थरों का एक आयताकार चबूतरा है। उसके चारों ओर विभिन्न आकारों की कोठरियाँ बनी हुई हैं। यह स्थल 'जरासंध की बैठक' कहलाता है। चीनी यात्रियों के अनुसार यह 'पिप्पल-प्रस्तर गृह' था।

राजगृह का सबसे महत्वपूर्ण स्थल 'सप्तपर्णी गुहा' माना जाता है। अनुश्रुति के आधार पर प्रथम बौद्ध संगीति का आयोजन यहीं किया गया था। कनिंघम ने वैभारगिरि की पूर्वी ढाल पर स्थित सोन-भण्डार गुहा को सप्तपर्णी गुहा माना है। बेग्लर इसकी स्थिति 'पिप्पल प्रस्तर गृह' से दक्षिण-पश्चिम की ओर लगभग एक मील की दूरी पर बताते हैं। इसे स्थानीय लोग 'अँधरिया-धँधरिया' कहते हैं। सर ऑरेल स्टाइन वैभारगिरि पर स्थित आदिनाथ के जैन मन्दिर के नीचे की ओर बनी गुफाओं को सप्तपर्णी गुहा का स्थल मानते हैं। सर जॉन मार्शल का मत है कि सप्तपर्णी कोई गुफा न थी, बल्कि वह एक बड़ा सभा-भवन था। वे उसकी स्थिति वैभारगिरि के उत्तरी पार्श्व में पिप्पल प्रस्तर गृह से लगभग डेढ़ मील दूर मानते हैं।

रत्नगिरि (आधुनिक छतागिरि) के दक्षिणी पार्श्व में भी दो गुफाएँ हैं। वहाँ कई छोटे बौद्ध स्मारक हैं। यह महात्मा बुद्ध का प्रिय निवास था, जो 'गृध्रकूट' नाम से प्रसिद्ध था।

राजगृह में गरम पानी का जो स्रोत है उससे गृध्रकूट की ओर जाने पर बीच में जीवक का आम्रवन तथा मद्दकुच्छि विहार के स्थल मिलते हैं। छतागिरि पर चढ़ते समय ईंटों के बने दो स्तूपों के अवशेष भी मिलते हैं। हुएन-सांग के अनुसार जब सम्राट् बिम्बिसार राजगृह में महात्मा बुद्ध से मिलने आये थे, तब वे जहाँ रथ से नीचे उतरे वहाँ पहला स्तूप बनाया गया। दूसरा उस स्थान पर बनाया गया जहाँ सम्राट् ने अपने साथ आ रहे लोगों को वापस जाने का आदेश दिया था।

घाटी के लगभग मध्य में एक अन्य स्मारक है, जिसे 'मणियार मठ' कहते हैं। इसकी दीवारें पाँच फुट मोटी हैं। इसके आकार के कारण मार्शल ने इसे एक विशाल शिवलिंग कहा है। किन्तु डा० ब्लॉख के अनुसार यह मणिनाग का स्मारक है। मणिनाग प्राचीन राजगृह का कुलदेवता था।

घाटी के मध्य में राजभवन के भग्नावशेष हैं। यही वह स्थान बताया जाता है जहाँ बिम्बिसार को अपने पुत्र अजातशत्रु द्वारा बन्दी बनाकर रखा गया था।

राजगृह नगर में दोनों पाषाण-प्राचीरों के भीतर जो इमारतें प्राचीन काल में बनायी गयी थीं उनमें से बहुसंख्यक लकड़ी की थीं, जो नष्ट हो गयीं। हुएन-सांग द्वारा राजगृह के जिस अग्निकाण्ड का उल्लेख किया गया है उसके कारण राजगृह नगर की इमारतों को पर्याप्त क्षति पहुँची होगी।[1] बौद्ध साहित्य में महागोविन्द नामक कुशल शिल्पी का उल्लेख मिलता है, जिसने ई० पूर्व पाँचवीं शती में राजगृह आदि अनेक बड़े नगरों की निर्माण-योजना प्रस्तुत की। उस समय के भवन-निर्माण में लकड़ी का प्रयोग मुख्य रूप से किया जाता था। नगर-योजना आयताकार या वर्गाकार रूप में होती थी। नगर के लिए निर्धारित क्षेत्र को, समकोण पर एक-दूसरे को काटते हुए दो मुख्य मार्गों द्वारा, चार बराबर भागों में विभक्त किया जाता था। प्रत्येक भाग में वर्णानुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के भवनों आदि का निर्माण किया जाता था।

लौरिया-नन्दनगढ़—यह स्थान बिहार के चम्पारन जिले में है। यहाँ मिट्टी के अनेक प्राचीन टीले हैं, जिनका निर्माण समाधियों के रूप में किया गया था। इन टीलों को बौद्ध स्तूपों का पूर्ववर्ती रूप कहा जा सकता है। पाटलिपुत्र से लुम्बिनी जाने वाले मार्ग पर स्थित होने के कारण लौरिया-नन्दनगढ़ का विशेष महत्त्व था।

इन टीलों की ऊँचाई १५ फुट से लेकर ४० फुट तक है। इनकी संख्या १५ है और ये पाँच-पाँच की तीन पंक्तियों में बनाये गये थे। इनकी दो पंक्तियाँ उत्तर से दक्षिण की ओर एक-दूसरे के समानान्तर पर हैं। तीसरी समकोण बनाती हुई पंक्ति पूर्व की ओर स्थित है। पहली पंक्ति के चौथे टीले के स्थान पर मिट्टी के पाँच थूहे पास-पास बने हैं।

उक्त टीलों का निर्माण पीली मिट्टी से किया गया। यह मिट्टी यहाँ से १० मील दूर बहने वाली गण्डक नदी से लायी गयी होगी। टीलों के पास ईंटों के बने किन्हीं स्मारकों के अवशेष हैं। इनमें प्रयुक्त ईंटें लगभग २०½ इंच लम्बी और ४ इंच मोटी हैं।

१९०५ में डा० ब्लाख ने कई टीलों का उत्खनन कराया। उनके अन्दर से कोयला मिश्रित जली हुई मानव-अस्थियाँ मिलीं। स्वर्ण के दो छोटे पत्तर भी मिले थे। उन पर खड़ी हुई मातृदेवी की आकृति बनी है।[2] कुछ टीलों (संख्या १२, १३) में जली हुई

१. बील—बुद्धिस्ट रेकार्ड्स आफ दि वेस्टर्न वर्ल्ड, जिल्द २, पृष्ठ १६५।
२. आर्कियोलॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया एनुअल रिपोर्ट, १९०६-७, पृष्ठ १२२, चित्र संख्या ४।

मानव-अस्थियों के नीचे सीधे गड़े हुए काष्ठखण्डों के अवशेष मिले, जो 'चैत्य-यूप' के रूप में गाड़े गये थे। कुछ टीलों के अन्दर से मानव अस्थि-पंजर भी प्राप्त हुए।

कनिंघम ने उक्त टीलों को वज्जियों के अर्ध-स्मारक माना था। ब्लोख का यह मत कि ये वैदिक समाधियाँ थीं, अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।[1]

स्तूप का उद्भव—लौरिया-नन्दनगढ़ के इन टीलों में परवर्ती बौद्ध एवं जैन स्तूपों का आदि रूप देखने को मिलता है। स्तूप (पालि 'थूप') वस्तुतः चिता-स्थल पर निर्मित टीला होता था, जो प्रारम्भ में मिट्टी का बनाया जाता था। 'स्तूप' की दूसरी संज्ञा इसीलिए 'चैत्य' हुई। उस स्थान पर पीपल का वृक्ष लगाने की परिपाटी भी हो गयी। मिट्टी के उक्त टीलों के पास चैत्ययूप बनाया जाता था, जो प्रायः लकड़ी का होता था। मिट्टी के टीले को धीरे-धीरे ईंटों या पत्थरों से आच्छादित किया जाने लगा। भरहुत, साँची आदि के स्तूप इस प्रकार के आच्छादनों के उदाहरण हैं। 'स्तूप' शब्द ऋग्वेद में दो बार आया है।[2] एक स्थान पर उसका प्रयोग अग्निशिखा की गाँठ के लिए हुआ है। दूसरे स्थान पर चारों ओर फैलते हुए वृक्ष के आकार से उसकी तुलना की गयी है।[3] बुद्ध के पूर्व, वैदिक साहित्य के अनुसार 'स्तूप' शब्द किसी महापुरुष के स्मारक का द्योतक था।

बौद्ध साहित्य में 'स्तूप' शब्द का प्रयोग मृत व्यक्ति की अस्थियों पर बनायी जाने वाली समाधि के लिए हुआ है, जिसका आकार औंधे कटोरेनुमा टीले-जैसा हो। बाद में 'स्तूप' शब्द उन स्मारकों के लिए भी प्रयुक्त होने लगा जो बुद्ध या उनके उपासकों की स्मृति या किसी घटना-विशेष की स्मृति हेतु बना दिये जाते थे।

अनेक विद्वानों ने यूप या तुम्ब को स्तूप का प्राचीनतम स्वरूप माना है।[4] उसका आकार कुटी-जैसा होता था, जिसके अन्दर शवों को बिना जलाये दफनाया जाता था। विकास की दूसरी अवस्था में स्तूप शवागार (श्मशान) का स्वरूप ग्रहण करता है। श्मशान का प्रारम्भिक आकार कुटी-जैसा ही था, किन्तु उसके अन्दर शव की जली हुई अस्थियों को विधिवत् संगृह कर रखा जाता था। तीसरी स्थिति का विवरण 'आश्वलायन गृह्यसूत्र' में मिलता है। उसके अनुसार शव को जलाने के बाद अस्थियों को एक पात्र में एकत्रित कर पात्र को अन्दर रखा जाता था। चौथी स्थिति का उल्लेख 'महा-

१. आर्कॉओलॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया एनुअल रिपोर्ट, १९०६-७।
२. ऋ० ७,२,१; १.२४, ७; दे० वैदिक इन्डेक्स, जिल्द २, पृष्ठ ४८३।
३. दे० वासुदेवशरण अग्रवाल, इंडियन आर्ट, पृ० १२०।
४. दे० बरुआ, भरहुत, जिल्द १, पृष्ठ ११।

परिनिब्बान सुत्त' में मिलता है, जिसके अनुसार जलने से बची हुई अस्थियों में से कुछ को ही स्तूप में दफनाया जाता था, सबको नहीं। विकास की अन्तिम अवस्था में स्तूप केवल समाधि ही नहीं रह गया, वरन् वह एक स्मारक भी बन गया। विकास का यह क्रम मौर्यकाल तक पूर्ण हो गया।

लौरिया-नन्दनगढ़ के उक्त टीले स्तूप के विकास की तीसरी अवस्था को सूचित करते हैं। गृह्यसूत्रों के विवरणों से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में अन्त्येष्टि क्रिया में मुख्यतया चार बातें होती थीं : (१) शव-दाह, (२) अस्थि संचयन (बची हुई अस्थियों को मिट्टी के पात्र में एकत्र करना), (३) शान्ति-कर्म तथा (४) श्मशान चिता अथवा लोष्ठ चिता (बची हुई अस्थियों के ऊपर समाधि-स्मारक का निर्माण)। इनमें से अन्तिम क्रिया कुछ समय बाद की जाती थी। पात्र में संचित अस्थियों को कुछ दिनों तक किसी पेड़ के नीचे रखा रहने दिया जाता था। उसके बाद अस्थियों को धोकर पवित्र किया जाता था तथा कुछ अन्य क्रियाएँ होती थीं। अन्ततः अस्थियों को भूमि पर रख दिया जाता था तथा उनके ऊपर मिट्टी अथवा ईंटों का स्मारक बना दिया जाता था।

लौरिया-नन्दनगढ़ के प्राक्-मौर्यकालीन उक्त टीलों का विशेष महत्त्व है। उनसे बौद्ध स्तूप के उद्भव के सम्बन्ध में रोचक जानकारी उपलब्ध हुई है।

इन स्थानों के अतिरिक्त कुछ अन्य स्थलों से भी प्राक्-मौर्यकालीन स्मारक प्राप्त हुए हैं। हाल में कौशाम्बी, राजघाट, एरण, विदिशा आदि स्थानों में किये गये उत्खननों से मौर्य-काल के पहले के स्थापत्य के विषय में थोड़ी-बहुत जानकारी प्राप्त हुई है। उत्तर प्रदेश के बस्ती जिले में स्थित पिप्रावा नामक स्थान में प्राक्-मौर्यकालीन स्तूप के अस्तित्व का पता श्री पेप्पी ने लगाया था।[1] वहाँ उन्हें एक अभिलिखित अस्थि-मंजूषा मिली थी। उस पर उत्कीर्ण ब्राह्मी लेख मौर्य युग के कुछ पहले का माना जाता है। पिप्रावा से सोने के पत्तर पर उत्कीर्ण एक स्त्री-प्रतिमा भी मिली है, जिसकी आकृति लौरिया-नन्दनगढ़ के स्वर्ण-पत्तरों पर बनी स्त्री-प्रतिमा (मातृदेवी) से बहुत मिलती-जुलती है।

मौर्यकालीन वास्तु

प्रारम्भिक मौर्यकालीन स्थापत्य के सम्बन्ध में मेगस्थनीज के विवरणों से कुछ जानकारी मिलती है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से भी इस दिशा में महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध

१. डब्लू० सी० पेप्पी तथा वी० ए० स्मिथ, 'दि पिप्रावा स्तूप', जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी, १८९८, पृष्ठ ५७३ तथा आगे।

होती है। इन विवरणों की अनेक बातें बुलन्दीबाग तथा कुमरहार (पटना के समीप) में हुए उत्खननों से प्राप्त सामग्री से पुष्ट हुई हैं।

नगर योजना—मेगस्थनीज के विवरण में मौर्यों की राजधानी पाटलिपुत्र का विवरण मिलता है, जो इस प्रकार है :

"भारत का सबसे बड़ा नगर वह है जिसे पलिबोथा (पाटलिपुत्र) कहते हैं। नगर की लम्बाई ८० स्टेडिया (लगभग साढ़े नौ मील) तथा चौड़ाई १५ स्टेडिया (लगभग २ मील) है। इसके चारों ओर एक खाई है, जो ६०० फुट चौड़ी तथा ३० फुट गहरी है। नगर के चारों ओर लकड़ी की बनी हुई एक रक्षाप्राचीर है। उसमें ५७० बुर्ज तथा ६४ द्वार हैं।"[1]

प्राचीन भारत में बड़े नगरों के चारों ओर परिखा तथा रक्षा-प्राचीर (प्राकार) बनाने की परम्परा थी। मेगस्थनीज के विवरण से इसकी पुष्टि होती है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में स्थापत्य के सम्बन्ध में रोचक उल्लेख उपलब्ध है। कौटिल्य के अनुसार राजधानी की रक्षा के लिए प्राचीर या प्राकार के बाहर एक-दूसरे के समानान्तर तीन खाइयाँ (परिखा) होनी चाहिए। प्रत्येक को पास की खाई से ६ फुट (१ दण्ड) दूर बनाया जाय। इन खाइयों की चौड़ाई क्रमशः १४,१२ तथा १० दण्ड निर्धारित की गयी। उनकी गहराई, चौड़ाई की आधी अथवा तीन चौथाई होती थी। खाइयाँ नीचे की ओर सँकरी होती थीं। खाइयों के किनारों को ईंटों या पत्थरों से मजबूत बनाया जाता था।

अन्दर की खाई से लगभग २४ फुट (४ दण्ड) की दूरी पर खाइयों से निकली हुई मिट्टी से चारदीवारी (वप्र या चय) का निर्माण किया जाता था। यह चारदीवारी लगभग ३६ फुट ऊँची होती थी। नीचे की ओर उसकी चौड़ाई, ऊँचाई की अपेक्षा दुगनी होती थी। इस चारदीवारी का आकार घड़े-जैसा होता था। उसके ऊपर रक्षा-प्राचीर का निर्माण किया जाता था।

अर्थशास्त्र में ईंटों या पत्थरों के प्राचीर-निर्माण का विधान है। उसकी चौड़ाई १२ से २४ हाथ (१८ से ३६ फुट) तक होती थी। ऊँचाई, चौड़ाई से दुगनी होती थी। प्राकार के लिए 'रथचर्या-सञ्चारम्' विशेषण प्रयुक्त हुआ है, जिससे ज्ञात होता है कि प्राकार के ऊपर इतनी चौड़ी सड़क बनायी जाती थी कि उस पर रथ आसानी से चल सके।

१. द्रष्टव्य विनोद बिहारी दत्त, टाउन प्लानिंग इन एंशंट इण्डिया, पृष्ठ ३२३।

रक्षा-प्राचीर में १२ द्वार होते थे, जिनमें से ४ प्रमुख थे। ये चार प्रमुख द्वार (१) ब्राह्म, (२) ऐन्द्र, (३) याम्य तथा (४) सैनापत्य थे।[1]

कौटिल्य के अनुसार रक्षा-प्राचीर बहुत दृढ़ होनी चाहिए। लकड़ी की प्राचीर में दृढ़ता की कमी होती थी। पाटलिपुत्र के चारों ओर लकड़ी की रक्षा-प्राचीर का उल्लेख किया जा चुका है। इस नगर की स्थिति के कारण ऐसा ही सम्भव था। एरियन द्वारा उद्धृत मेगस्थनीज के एक अन्य विवरण से ज्ञात होता है कि 'जो नगर नदियों के किनारे या अन्यत्र निचली भूमि पर स्थित होते थे, वे लकड़ी के बनाये जाते थे; ऐसे महत्वपूर्ण स्थानों पर स्थित नगरों में जहाँ बाढ़ का खतरा कम होता था, पुलिन मिट्टी अथवा ईंटों से भवन-निर्माण होता था।'[2] पाटलिपुत्र नगर सोन तथा गंगा के संगम पर बसा था और उसे बाढ़ का खतरा रहता था। इसीलिए रक्षा-प्राचीर को व्ययसाध्य बनाना उपयुक्त नहीं समझा गया। पाटलिपुत्र की इस भौगोलिक स्थिति के कारण ही कालांतर में उसके स्थान पर अन्य नगरों को राजधानियों के रूप में विकसित किया गया।

पाटलिपुत्र की रक्षा-प्राचीर लकड़ी के मोटे लट्ठों से बनायी गयी थी। इस बात की पुष्टि बुलन्दीबाग के उत्खननों से हुई है। १९१५-१६ तथा १९२३ में यहाँ डा० स्पूनर के निर्देशन में उत्खनन-कार्य किया गया। डा० स्पूनर को आरम्भ में यहाँ लगभग २४ फुट की गहराई में लकड़ी की बड़ी-बड़ी शहतीरों के अवशेष मिले, जो भूमि में तिरछे स्थित थे। शहतीरों के ऊपरी भाग भूमितल से केवल १० फुट नीचे गड़े थे। उत्खनन में लकड़ी के मोटे लट्ठों से निर्मित, एक दूसरे के समानान्तर, पूर्व की ओर जाती हुई दो दीवारें मिलीं, जिनकी लम्बाई लगभग २४ फुट थी। दीवारों के बीच में लकड़ी का ही बना हुआ फर्श मिला। फर्श के निर्माण में जिन शहतीरों का प्रयोग हुआ था उनके दोनों सिरे उक्त दीवारों के सीधे खड़े लट्ठों में बने छिद्रों में धँसे थे। इन लट्ठों के नीचे लकड़ी का बना मजबूत फर्श मिला। इस कंकरीली फर्श का विस्तार पूर्व की ओर ३५० फुट तक देखा गया।

१९२३ के उत्खननों के परिणामस्वरूप ३५० फुट लम्बे फलक के इस फर्श के पूर्वी सिरे पर लकड़ी की दीवार के अवशेष पुनः मिले। इस स्थान पर फर्श के शहतीरों को रेलवे लाइन की पटरियों की तरह एक-दूसरे से मिलाकर बिछाया गया था। इन शहतीरों की चौड़ाई लगभग १० इंच तथा लम्बाई १२-१३ फुट थी।

१. डॉ० तारापद भट्टाचार्य, वही, पृष्ठ ७० तथा आगे।
२. वही, पृ० ७५ तथा आगे।

जिस गहराई पर ये लट्ठे मिले तथा जिस रूप में दीवारों को पाया गया, उससे यह बात पुष्ट हो गयी कि लकड़ी के ये अवशेष पाटलिपुत्र के चारों ओर बनी रक्षा-प्राचीर तथा चन्द्रगुप्त मौर्य के राजप्रासाद के ही हैं।[1]

अन्य नगर—विवेच्य युग में पाटलिपुत्र की तरह अन्य बड़े नगरों का भी वास्तु रहा होगा। वाराणसी, कौशाम्बी, श्रावस्ती, मथुरा, अहिच्छत्रा, विदिशा, उज्जयिनी, प्रतिष्ठान आदि अनेक नगर इस युग में प्रसिद्ध थे। इन नगरों के चारों ओर परिखा तथा प्राकार की व्यवस्था थी। अनेक प्राचीन नगरों में हाल में किये गये उत्खननों में इनके चिह्न मिले हैं। इस बात की पुष्टि विभिन्न बौद्ध स्मारकों में प्राप्त उत्कीर्ण शिलापट्टों से भी होती है। ये शिलापट्ट यद्यपि कुछ बाद के बने हैं, पर उनमें से अनेक पर मौर्यकालीन नगरों के स्वरूप अंकित हैं। उदाहरणार्थ, सांची के तोरणों पर पूजा-अर्चा, शोभा-यात्रा, युद्ध आदि से सम्बन्धित दृश्य प्रदर्शित हैं। इन दृश्यों की पृष्ठभूमि में नगरों को भी अंकित किया गया है। जिन नगरों की रक्षा-प्राचीर, मुख्य प्रवेश-द्वार या अन्य भाग इन शिलापट्टों पर उत्कीर्ण हैं वे कपिलवस्तु, राजगृह, कुशीनगर आदि हैं। मथुरा-कला में गवाक्ष, सोपानमार्ग आदि से युक्त भव्य हर्म्य चित्रित मिलते हैं। भरहुत, सांची एवं मथुरा की अनेक कलाकृतियों पर प्रासादों, साधारण भवनों, पर्णशालाओं आदि को अंकित किया गया है।

राज-प्रासाद—चन्द्रगुप्त का राज-प्रासाद मेगास्थनीज के कथनानुसार पाटलिपुत्र नगर के मध्य में स्थित था। उसके चारों ओर एक सुन्दर उद्यान था, जिसमें मछलियों से युक्त सरोवर थे। यह प्रासाद, मेगास्थनीज के अनुसार, सूसा तथा एकबताना के राज-प्रासादों से भी अधिक सुन्दर था। उसके लकड़ी के खम्भों पर सोने के पत्तर मढ़े हुए थे। प्रासाद का आन्तरिक कक्ष राजसिंहासन, पादपीठों तथा सोने-चांदी की रत्नजटित वस्तुओं से सुसज्जित था।

'अर्थशास्त्र' में प्रासाद तथा उसके विभिन्न भागों के विवरण मिलते हैं। उसके अन्तःपुर की रक्षा हेतु कौटिल्य ने महल के चारों ओर खाई तथा प्राचीर बनाने का विधान किया है। राजा जहाँ दिन का अधिकांश समय व्यतीत करता था उस स्थान को भी पर्याप्त सुरक्षित रखने के लिए कहा गया है। प्रासाद में तहखाने, अनेक गुप्त कक्ष तथा गुप्त मार्ग बने होते थे। कहीं-कहीं शत्रुओं को धोखे से डालने और उन्हें पकड़ने के लिए गुप्त गड्ढे (अवपात) भी बने होते थे।[2]

१. आर्केयोलॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया, १९१२-१३ पृष्ठ ७६।
२. तारापद भट्टाचार्य, वही, पृष्ठ ७८ तथा आगे।

'अर्थशास्त्र' के विवरणों से ज्ञात होता है कि प्रासादों की दीवारें ईंटों की बनायी जाती थीं।[1] यह भी विधान मिलता है कि अन्तःपुर की दीवारों को 'वैद्युत भस्म' तथा करक-वारि के प्रयोग द्वारा अग्नि से सुरक्षित कर देना चाहिए।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि मौर्यकाल के आरम्भ में स्थापत्य का पर्याप्त विकास हो चुका था। परन्तु इस कला का अधिक एवं व्यवस्थित विकास मौर्यवंश के तृतीय सम्राट् अशोक के शासन-काल में हुआ। अशोक के प्रयासों से बौद्ध धर्म का इस देश में तथा विदेशों में व्यापक प्रसार हुआ। उसने बहुसंख्यक बौद्ध स्मारकों का निर्माण कराया। इमारतों के लिए पाषाण का सीमित प्रयोग अशोक के पहले भी मिलता है। परन्तु इसका प्रचुर प्रयोग अशोक के शासनकाल में हुआ। अशोक की इच्छा थी कि उसके द्वारा उत्कीर्ण कराये गये अभिलेख चिरस्थायी ('चिरस्थितिका') हों। अतः उसने उन्हें पर्वत की चट्टानों, शिलास्तम्भों तथा गुफाओं में उत्कीर्ण कराया। पाषाण-जैसे स्थायी माध्यम के कारण ही आज अशोककालीन स्थापत्य के अनेक उदाहरण उपलब्ध हो सके हैं।

अशोककालीन स्मारकों को निम्नलिखित चार भागों में विभक्त किया जा सकता है :

(१) स्तम्भ,
(२) स्तूप,
(३) राजप्रासाद तथा
(४) गुहाएँ।

स्तम्भ—अशोक के समय के स्मारकों में उसके द्वारा बनवाये गये स्तम्भ विशेष महत्त्व के हैं। चुनार के पत्थर से बने ये ठोस स्तम्भ ३० से ४० फुट तक ऊँचे हैं। ये मुख्यतः धर्मप्रचार के उद्देश्य से बनवाये गये थे। इन पर सुन्दर चमकीली ओप (पालिश) है। इन स्तम्भों को देश के विभिन्न भागों में स्थापित किया गया। इनमें से जो स्तम्भ आज दिल्ली, प्रयाग, लौरिया-अरराज, लौरिया-नन्दनगढ़ तथा रमपुरवा में हैं उन पर अशोक के प्रमुख स्तम्भलेख उत्कीर्ण हैं। लुम्बिनी, साँची, सारनाथ, कौशाम्बी आदि स्थानों पर प्राप्त स्तम्भों पर उसके लघु शिलालेख मिलते हैं। इन विभिन्न स्तम्भों में से कोल्हुआ या बखरा के स्तम्भ तथा लौरिया-नन्दनगढ़ का स्तम्भ आज भी अपने स्थानों पर ज्यों के त्यों खड़े हैं। अन्य स्तम्भों में से अनेक भग्नावस्था में हैं। कुछ की मरम्मत करके उन्हें पहले जैसा रूप देने का प्रयत्न किया गया है।

१. अर्थशास्त्र, २.५।

अशोककालीन स्तम्भ को मुख्यतया दो भागों में बाँटा जा सकता है : पहला नीचे का दण्ड या लाठ तथा दूसरा ऊपर का शीर्ष या परगहा। सभी स्तम्भों का दण्ड गोलाकार है। वह नीचे की ओर अधिक मोटा है तथा ऊपर की ओर उसकी मोटाई धीरे-धीरे कम होती गयी है। इसके निर्माण में चुनार के लाल पत्थर के एक ही टुकड़े का उपयोग किया गया। पत्थर की सतह चिकनी है और उसके ऊपर सुन्दर चमकीली ओप (पालिश) है।

स्तम्भों का दूसरा भाग, जो दण्ड के ऊपर स्थित रहता है, 'शीर्ष' कहलाता है। शीर्ष पर दण्ड की अपेक्षा अधिक कलात्मकता मिलती है। शीर्ष के पाँच भाग हैं : (१) इकहरी या दुहरी पतली मेखला जो लाठ के ठीक ऊपर आती है, (२) उसके ऊपर कमल-पंखड़ियों का अलंकरण, जो घंटाकृति-जैसा है, (३) उसके ऊपर कंठा, (४) गोल या चौखूटी चौकी, तथा (५) सिरे पर बैठे हुए एक या अधिक पशु। अन्य अलंकरणों में तो सुन्दरता है ही, पर विशेष उल्लेखनीय पशुओं की आकृतियाँ हैं। इलाहाबाद और रामपुरवा के स्तम्भों के ऊपर बैलों की आकृतियाँ बनी हैं। साथ में कमल आदि जो अलंकरण चुने गये हैं वे भी अत्यन्त सजीव हो उठे हैं। शीर्ष के सिरे पर के जानवरों को चारों ओर से कोर कर गढ़ा गया है। ये जानवर सिंह, हाथी, बैल और घोड़ा हैं। इन चारों का सम्बन्ध भगवान् बुद्ध के साथ माना जाता है।

सारनाथ के शीर्ष या परगहा की चौकी सबसे सुन्दर है। इस पर उक्त चारों जानवर चार पहियों के बीच उभारकर बनाये गये हैं। चारों पहिए धर्मचक्र को सूचित करते हैं, जिसका प्रवर्तन सबसे पहले भगवान् बुद्ध द्वारा सारनाथ में किया गया। सिरे की चार सिंहाकृतियों के ऊपर भी एक धर्मचक्र था, जिसके टुकड़े प्राप्त हुए हैं। इस धर्मचक्र का व्यास दो फुट सौ इंच था। सिरे पर के सिंहों का अंकन अत्यन्त सजीव है। चारों को पीठ से पीठ मिलाये हुए दिखाया गया है। उनके अंग-प्रत्यंग गठीले हैं और बड़ी सफाई से गढ़कर बनाये गये हैं। लहरदार बालों की बारीकी भी दर्शनीय है। पहले इन सिंहों की आँखों में सम्भवतः मणियाँ जड़ी हुई थीं। यह परगहा निस्संदेह भारतीय मूर्तिकला का उत्कृष्ट उदाहरण है।[1] अशोक के समय की मूर्तिकला की यह विशेषता है कि उसमें सजीवता और निखारपन मिलता है और कहीं भी भद्दी या बेडौल रचना नहीं मिलती।

मौर्यकालीन और परवर्ती भारतीय कला में अनेक ऐसे अभिप्राय या अलंकरण मिलते हैं जो सुमेर, असीरिया, ईरान आदि की कलाओं में भी उपलब्ध हैं। इनमें से कुछ हैं—

१. इसके अनुसरण पर साँची, मथुरा आदि स्थानों में भी सिंह-शीर्षों का निर्माण किया गया, पर उनकी कला निम्न कोटि की है।

अथवा सिंह या बैल, नर-मकर, नर-अश्व, मेष-मकर, गज-मकर, वृष-मकर, सिंह-नारी आदि। इनके सम्बन्ध में कुछ पाश्चात्य विद्वानों की यह मान्यता रही है कि भारतीय कलाकारों ने उन्हें ईरान या अन्य किसी पश्चिमी देश से लिया। डा० आनन्द कुमारस्वामी ने ऐसे अभिप्रायों की एक लम्बी सूची दी है और अपना यह विचार व्यक्त किया है कि भारत का ईरान तथा पश्चिमी (लघु) एशिया से व्यापारिक सम्बन्ध बहुत पुरातन रहा है, अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं यदि अन्य क्षेत्रों की तरह कला के क्षेत्र में भी बहुत सी बातें एक-दूसरे से साम्य रखती हुई पायी जाएँ।[1] सम्भव है कि उक्त अलंकरणों का भारत तथा ईरान आदि देशों में आयात किसी एक स्थान से हुआ हो।[2]

परन्तु अनेक विद्वानों का मत है कि अशोक के उक्त स्तम्भ विदेशी कला से प्रभावित हैं। उनका विचार है कि स्तम्भ-निर्माण की परम्परा भारत में विदेशों से आयी। विंसेंट स्मिथ स्तम्भों के शीर्ष पर ईरान तथा असीरिया की कला का प्रभाव तथा पशुओं की आकृतियों पर यूनानी कला का प्रभाव मानते हैं।[3] इन स्तम्भों की तकनीक पश्चिमी एशिया तथा ईरान की पूर्ववर्ती तकनीक से बहुत मिलती है। असीरिया तथा ईरान से हमारे सम्बन्ध होने के कारण वहाँ की संस्कृति के अनेक तत्वों का भारत में आना और यहाँ के कुछ तत्वों का पश्चिमी देशों में जाना स्वाभाविक था।

'यूप' के रूप में स्तम्भों का निर्माण हमारे यहाँ वैदिक काल में प्रचलित था। शीर्ष के दूसरे भाग को पाश्चात्य विद्वान घंटालंकरण मानते हैं। वह वास्तव में निम्नाभिमुख कमल है। हैवेल-जैसे कला-मर्मज्ञ ने भी इसे स्वीकार किया है। शीर्ष पर जिन पशुओं की आकृतियाँ मिलती हैं उनका सम्बन्ध वैदिक तथा पौराणिक मान्यताओं से है। गज पूर्व दिशा का, वृषभ पश्चिम का, सिंह उत्तर का तथा अश्व दक्षिण दिशा से सम्बन्धित है। इन पशुओं का प्रतीकात्मक रूप में महात्मा बुद्ध के जीवन से भी सम्बन्ध माना गया है। गज बुद्ध के जन्म का, वृषभ उनकी राशि का, सिंह बुद्ध के 'शाक्यसिंह' होने का तथा अश्व उनके महाभिनिष्क्रमण का प्रतीक है।[4] सारनाथ-शीर्ष के पशुओं की तरह रमपुरवा, बखरा आदि के शीर्ष-पशु भी दर्शनीय हैं।

१. आनन्द के० कुमारस्वामी, हिस्ट्री ऑफ इंडियन ऐंड इंडोनेशियन आर्ट, पृ० ११-१४।
२. अशोक की कृतियों के अतिरिक्त मथुरा, पटना आदि से जो विशालकाय यक्ष-प्रतिमाएँ मिली हैं वे विशुद्ध भारतीय शैली की हैं। उनमें विदेशीपन नहीं है।
३. स्मिथ, अशोक, पृष्ठ ११०-११।
४. बे०, रौलैंड, दि आर्ट ऐंड आर्किटेक्चर आफ इंडिया, पृ० ४२-४३।

अशोक ने इन स्तम्भों को मुख्यतः अपने धार्मिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए बनवाया और उन्हें अपने साम्राज्य के विभिन्न भागों में स्थापित कराया। अधिकांश स्तम्भों के पास स्तूप या इसी प्रकार के अन्य स्मारक मिलते हैं। रमपुरवा, लौरिया-अरराज, लौरिया-नन्दनगढ़ तथा कोल्हुआ में जो स्तम्भ मिले हैं वे उस मार्ग पर बनवाये गये थे जो पाटलिपुत्र से बुद्ध के जन्म-स्थान लुम्बिनी तक जाता था। हुएन-सांग ने राजगृह, पाटलिपुत्र, वैशाली, सारनाथ, कुशीनगर, कपिलवस्तु, श्रावस्ती तथा संकाश्य में अशोक के स्तम्भों को देखा था। कपिलवस्तु को छोड़कर ये सभी स्थान पूर्वी भारत से उत्तर-पश्चिम को जाने वाले बड़े राजमार्ग पर स्थित थे। कौशाम्बी, सांची, इन्द्रप्रस्थ आदि स्थान, भी जहाँ से अशोक के अन्य स्तम्भ मिले हैं, बड़े मार्गों पर स्थित थे। हाल में पटना आरा, कोसम आदि से अशोक के कुछ नये स्तम्भावशेष मिले हैं।

इन स्तम्भों से मौर्यकालीन तक्षकों के उच्चकोटि के कौशल का पता चलता है। वास्तुपरक तकनीकी ज्ञान तथा कला में चारुत्व तत्त्व के वे मर्मज्ञ थे। विशाल स्तम्भों का निर्माण होने के बाद उन्हें सैकड़ों मील दूर ले जाकर खड़ा करना साधारण कार्य नहीं था। १४वीं शती में फीरोजशाह तुगलक ने टोपरा (जिला अम्बाला) तथा मेरठ के स्तम्भों को दिल्ली में स्थानान्तरित कराया। टोपरा वाले स्तम्भ के स्थानान्तरण में जो कठिनाई हुई थी उसका आभास एक समकालीन इतिहासकार (शम्स-ए-सिराज) के विवरण में मिलता है। विवरण के कुछ अंश इस प्रकार हैं:

"खिजाबाद, जो पहाड़ियों के पास है, दिल्ली से नब्बे (९०) कोस की दूरी पर है। जब सुल्तान (फीरोज) वहाँ आया और उसने टोपरा ग्राम में इस स्तम्भ को देखा, तो उसने इसे दिल्ली ले जाने तथा वहाँ भावी पीढ़ियों के लिए उसे स्मारक-रूप में खड़ा करने का निश्चय किया। स्तम्भ को नीचे गिराने के सबसे अच्छे तरीकों पर विचार कर लेने के बाद यह आज्ञा दी गयी कि दोआबे में और दोआबे के बाहर निकटवर्ती क्षेत्रों में रहने वाले सभी लोग तथा पदाति एवं अश्वारोही सेना के सभी सैनिक वहाँ उपस्थित हों। उन्हें यह आज्ञा दी गयी कि वे उन सभी औजारों तथा सामग्रियों को साथ लावें जो इस कार्य हेतु उपयोगी हों। रेशम के पेड़ों से रुई के बण्डल लाने के आदेश दिये गये। इस रेशम की रुई के ढेर स्तम्भ के चारों ओर रख दिये गये। जब खम्भे की नींव की मिट्टी हटा दी गयी, तो वह इसी के लिए बनाये गये रुई के बिस्तर पर सँभालकर गिराया गया। उसके बाद थोड़ा-थोड़ा करके रुई को हटाया गया। स्तम्भ की नींव का निरीक्षण करने पर उसमें स्तम्भ के आधार के रूप में एक बड़ा चौकोर पत्थर मिला, जिसको भी बाहर निकाल लिया गया। इसके बाद स्तम्भ के चारों ओर नीचे से ऊपर तक सरकण्डों तथा बिना

पक्काई घासों को लपेटा गया, जिससे स्तम्भ को कोई क्षति न पहुँच सके। फिर बयालीस पहियों से युक्त एक गाड़ी का निर्माण किया गया और प्रत्येक पहिये में रस्सों को बाँधा गया। हर रस्से पर हजारों लोगों को लगाया गया; तथा अत्यधिक परिश्रम एवं कठिनाई के बाद स्तम्भ को उठाकर गाड़ी पर रखा जा सका। प्रत्येक पहिये से एक-एक मोटे रस्से को बाँधा गया और इनमें से प्रत्येक रस्से को दो-दो सौ आदमियों ने खींचा। इस प्रकार कई हजार लोगों ने एक साथ शक्ति लगाकर गाड़ी को खींचा तथा उसे वे यमुना के तट तक ले आये। यहाँ सुल्तान स्वयं इसे देखने आया। अनेक बड़ी-बड़ी नौकाओं को एकत्र कर लिया गया था, जिनमें से कुछ ५,००० और ७,००० मन, और सबसे कम २,००० मन अन्न ले जा सकती थीं। स्तम्भ को बड़ी सावधानी के साथ इन नौकाओं पर रखा गया, और तदन्तर उसे फिरोजाबाद (पुरानी दिल्ली) ले जाया गया।"[1]

स्तूप—ऊपर बताया जा चुका है कि वैदिक काल से समाधि-रूप धूहों के बनाने की परम्परा चल चुकी थी। उसी परम्परा से कालान्तर में स्तूपों का आविर्भाव हुआ। बौद्ध स्तूपों का निर्माण निम्नलिखित उद्देश्यों से किया जाने लगा :

(१) महात्मा बुद्ध तथा उनके प्रमुख अनुयायियों के अवशेषों को सुरक्षित रखने के लिए।

(२) बुद्ध की पुरानी भग्न मूर्तियों या चिह्नों के ऊपर, मूर्ति के प्रति सम्मान प्रकट करने हेतु। गौतम बुद्ध के पूर्ववर्ती बुद्धों के लिए भी ऐसे स्तूपों का निर्माण किया गया।

(३) बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित घटनाओं अथवा पवित्र स्थानों को पूजनीय बनाने की दृष्टि से।

(४) संकल्पित स्तूप, जिनका निर्माण दानार्थ होता था। ये प्रायः आकार में छोटे होते थे।

सम्राट् अशोक ने स्तूपों के निर्माण में बड़ी रुचि ली। अनुश्रुतियों के अनुसार उसने भारत तथा अफगानिस्तान में ८४,००० स्तूपों का निर्माण करवाया। तक्षशिला के धर्मराजिका स्तूप का निर्माता अशोक को ही माना जाता है।[2] काबुल-जैलालाबाद के बीच नगरहार नामक स्थान पर अशोक द्वारा निर्मित ३०० फुट ऊँचे स्तूप का उल्लेख ह्वेन-सांग ने किया है। उसने अशोक के अन्य कई स्तूपों को भी देखा था, जिनका उसने विवरण लिखा है।

१. कार स्टीफेन, आर्कियोलॉजी आफ देहली, पृ० १३१ पर उद्धृत।
२. कृष्णदत्त तथा वाजपेयी, उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास, अध्याय १७।

अशोक के समय बनाये गये बहुसंख्यक स्तूप अब नष्ट हो चुके हैं। जिन स्तूपों के अवशेष आज विद्यमान हैं उनमें से दो विशेष उल्लेखनीय हैं : (१) सारनाथ का धर्मराजिका स्तूप, तथा (२) साँची का मुख्य स्तूप (सं० १)। सारनाथ के स्तूप का अब केवल तल भाग अवशिष्ट है। ईंटों का बना यह गोलाकार स्तूप लगभग ६० फुट व्यास का रहा होगा। इस स्तूप के दक्षिण में एक ही पत्थर को काटकर बनायी गयी वेदिका भी मिली है। उस पर मौर्यकालीन चमकीला ओप है। यह वेदिका आरम्भ में धर्मराजिका स्तूप की हर्मिका के रूप में रही होगी। कालान्तर में उसके गिर जाने पर उसे उठाकर अलग रख दिया गया होगा। धर्मराजिका स्तूप का पुनर्निर्माण प्रायः बारहवीं शती तक चलता रहा और समयानुसार उसका आकार बढ़ता गया। छोटा ('अल्पेशाख्य') रूप बाद में बड़े ('महेशाख्य') रूप में परिवर्तित हो गया। अन्ततः राजा जगतसिंह द्वारा अज्ञानवश यह स्तूप नष्ट कर दिया गया।

साँची का मुख्य स्तूप इस समय अपनी विशालता एवं उसके चारों ओर बनाये गये सुन्दर तोरण-द्वारों के कारण प्रख्यात है। उसमें दो प्रदक्षिणा-पथ हैं, जो चारों ओर बनी हुई पत्थर की सुन्दर वेदिका से परिवेष्टित हैं। स्तूप के तल का व्यास लगभग १२० फुट है तथा उसकी ऊँचाई ५४ फुट है। सारनाथ के धर्मराजिका स्तूप की तरह साँची के अशोककालीन स्तूप का भी संस्कार बाद में होता रहा। इसके अनेक अवयवों का निर्माण शक-सातवाहन युग में सम्पन्न हुआ, और अशोक द्वारा बनवाया गया मूल स्तूप बाद के परिवर्द्धित स्तूप के नीचे दब गया। सर जॉन मार्शल के अनुसार ईंटों के बने अशोककालीन स्तूप का आकार परवर्ती पाषाण स्तूप के आकार का लगभग आधा रहा होगा।

राजप्रासाद—मौर्यकालीन शिल्पियों ने उक्त राजकीय, धार्मिक स्थापत्य के निर्माण में अपनी दक्षता का परिचय दिया। साथ ही उन्होंने विशाल मौर्य-साम्राज्य की गरिमा के अनुरूप पाटलिपुत्र में राजप्रासाद का निर्माण भी अत्यन्त निपुणता से किया। ई० पाँचवीं शती के आरम्भ में जब चीनी यात्री फाह्यान ने इस राज-प्रासाद को देखा तो उसने इसके निर्माण को मानव-शक्ति से परे माना। उसने लिखा है :

"नगर के मध्य में स्थित राज-प्रासाद तथा सभा-भवन ⋯⋯ सभी उन देवात्माओं द्वारा निर्मित किये गये थे जिनको उसने (अशोक ने) नियुक्त कर रखा था। उन्होंने ही ऐसे ढंग से पत्थर एकत्र किये, दीवालों तथा तोरणों को खड़ा किया, चित्ताकर्षक नक्काशी

की तथा मूर्तियों के उत्कीर्ण करने का कार्य किया। ऐसा इस संसार के कोई भी मानवीय हाथ नहीं कर सकते थे।"[1]

सातवीं शती में ह्वेनसांग की भारत-यात्रा के समय तक यह राजप्रासाद नष्टप्राय हो चुका था। महल के निर्माण में लकड़ी का उपयोग बहुलता से किया गया था। पाषाण-जैसे स्थायी माध्यम को बहुत कम प्रयुक्त किया गया था। इस कारण भी यह प्रासाद अधिक समय तक न ठहर सका। महाभारत (सभा पर्व ३.११) में युधिष्ठिर की सभा का विस्तृत विवरण मिलता है। मौर्यों के जिस सभा-भवन के अवशेष पाटलिपुत्र से मिले हैं वे महाभारत के वर्णन से मेल खाते हैं।[2]

कुम्रहार नामक ग्राम आधुनिक पटना शहर के उत्तर में स्थित है। इसके पश्चिमी ओर एक तालाब है, जिसका स्थानीय नाम 'कल्लू' है। इस तालाब से दक्षिण की ओर कुछ दूरी पर एक दूसरा तालाब है, जो 'चमन' तालाब कहलाता है। इन दोनों के बीच की भूमि आसपास की भूमि से ऊँची है। इसी स्थान पर की गयी खुदाई से मौर्यकालीन राज-प्रासाद का सभा-भवन निकला था।

उक्त स्थल की लम्बाई लगभग ३०० फुट तथा चौड़ाई २५० फुट है। कर्नल वैडेल ने यहाँ मौर्य-ओप से युक्त पत्थर के कुछ टुकड़े पाये थे।[3] उसके बाद १९१३ में डा० स्पूनर के निर्देशन में यहाँ उत्खनन कराया गया। उसके परिणामस्वरूप गुप्तकालीन प्राचीर के अवशेषों के नीचे लगभग एक फुट मोटी राख की तह मिली। इस तह के नीचे एक बड़े क्षेत्र में ठीक १५-१५ फुट के अन्तर पर ओपयुक्त पत्थरों के स्तम्भ धँसे हुए मिले। प्रत्येक स्तम्भ की ऊँचाई लगभग २१ फुट रही होगी। भवन-निर्माण के समय इन स्तम्भों को किसी दृढ़ आधार पर न टिकाकर लकड़ी की चौकियों पर खड़ा किया गया था, जो गहरी गड़ी थीं। इस सभाभवन में ऐसे ८० स्तम्भों को खड़ा किया गया था। दस-दस खम्भे आठ पंक्तियों में पूरब-पश्चिम लगाये गये थे। पूर्वी किनारे पर भी अन्य स्तम्भ सम्भवतः सम्राट् के राजसिंहासन को संभालने के लिए लगाये गये थे। सभा-भवन का फर्श तथा छत लकड़ी के बने हुए थे।

१. वी० ए० स्मिथ, वही, पृष्ठ ८७ में उद्धृत।
२. दे० वासुदेवशरण अग्रवाल, इंडियन आर्ट, पृ० ८५,८८।
३. वैडेल, 'डिस्कवरी आफ दि एक्जैक्ट साइट आफ अशोकस क्लासिक कैपिटल आफ पाटलिपुत्र, कलकत्ता १८९२।

कुछ विद्वानों का अनुमान है कि यह सभा-भवन चन्द्रगुप्त मौर्य के समय बन चुका था।[1] परन्तु उसके अवशेषों को देखते हुए यह युक्ति-संगत लगता है कि उसका निर्माण सम्राट् अशोक के समय में हुआ हो। यह सभा-भवन मौर्य राज-प्रासाद का द्वितीय अंश था। शेष दो बड़े अंशों में से प्रथम वह था जहाँ राजकीय अश्वशाला, हस्तिशाला तथा द्वार-रक्षकों का निवास था। तीसरा खण्ड 'राजकुल' कहलाता था, जो सम्राट् का मुख्य महल था और जिसमें अन्तःपुर आदि बना थे।

भारतीय स्थापत्य के इतिहास में उक्त मौर्यकालीन सभा-भवन का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। उसकी विशालता मौर्यों की गौरवपूर्ण स्थिति की ओर संकेत करती है।

गुहाएँ—भारत में पर्वत-गुहाओं (शैल-गृहों) की परम्परा बहुत पुरानी है। प्रागैतिहासिक तथा आद्यैतिहासिक काल की अनेक गुफाएँ मिली हैं जिनमें आदिम जन निवास करते थे। अशोक और उसके वंशज दशरथ ने अनेक गुहाओं का निर्माण कराया। इन शैल-गृहों की भीतरी दीवारों पर चमकीला ओप है। अशोक और दशरथ के समय के सात शैल-गृह मिले हैं। चार बाराबर पहाड़ी में (गया से उत्तर १३ मील दूर) हैं। शेष तीन नागार्जुनी पहाड़ी में हैं, जो बाराबर से उत्तर-पूर्व लगभग आधा मील की दूरी पर हैं। इनके अतिरिक्त राजगृह से १३ मील दक्षिण सीतामढ़ी नामक एक अन्य गुहा है, जो मौर्यकालीन मानी जाती है।

उक्त गुहाओं में बाराबर पहाड़ी की दो गुहाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं। प्रथम लोमश ऋषि गुहा है जिसका प्रवेश-द्वार दर्शनीय है। इसके निर्माण में शिल्पियों ने तत्कालीन-पर्णशालाओं का अनुकरण किया। दूसरी सुदामा गुहा है। उसके आन्तरिक भाग को देखने पर भी अनुकरण की उक्त प्रवृत्ति का बोध होता है। इसके अन्दर का सभा-भवन ३२ फुट ९ इंच लम्बा, १९ फुट ६ इंच चौड़ा तथा १२ फुट ३ इंच ऊँचा है। इसकी छत ढोलाकार बनी है। नागार्जुनी पहाड़ी की गुहाओं में गोपी गुहा सबसे बड़ी है। उसका आकार एक चौड़ी सुरंग की तरह का है। उसकी लम्बाई ४४ फुट, चौड़ाई १९ फुट तथा ऊँचाई १० फुट है। उसके द्वार के ऊपर एक अभिलेख है, जिससे ज्ञात होता है कि उसका निर्माण सम्राट् दशरथ की आज्ञा से हुआ था।

प्राचीन भारत में नगरों से कुछ दूर शैलगृहों का विशेष प्रयोजनों से निर्माण कराया जाता था। वे ऋषि-मुनियों या भिक्षुओं के निवास तथा उपासना-गृह के रूप में प्रयुक्त

1. वा० अग्रवाल, वही, पृ० ८५-८६।

होते थे। बाराबर की गुफाओं में जो अभिलेख मिले हैं उनसे ज्ञात होता है कि उनका निर्माण आजीविक सम्प्रदाय के साधुओं के हेतु कराया गया था।[1]

अन्य स्मारक—उक्त इमारतों के अतिरिक्त अशोक तथा उसके वंशजों के समय में अनेक बौद्ध विहार बनवाये गये। अनुश्रुति के अनुसार अशोक की रानी विदिशा-महादेवी द्वारा साँची में एक विहार निर्मित करवाया गया। मौर्यकालीन विहारों की परम्परा बाद में शताब्दियों तक चलती रही।

जयपुर के निकट बैराट के उत्खनन से अशोककालीन बौद्ध मन्दिर या स्तूप-भवन के अवशेष मिले थे। यह ईंट और लकड़ी का बनाया गया था। इसके निकट अशोक-कालीन अभिलेख-अवशेष मिले थे। उसके आधार पर इसे मौर्यकालीन माना गया है। यह स्तूप-भवन श्रेणीबद्ध, समान आकार वाले, २६ अठपहलू लकड़ी के स्तम्भों तथा बड़ी ईंटों की बनी दीवारों पर आधारित था। उसके चारों ओर प्रदक्षिणा-पथ था। पूर्व की ओर एक चौड़ा द्वार था, जिसमें से होकर अन्दर पहुँचा जाता था।[2]

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि मौर्यकाल से भारतीय स्थापत्य के इतिहास में एक नये युग का आरम्भ होता है। इस समय से बड़ी मात्रा में काष्ठ तथा पाषाण का साथ-साथ उपयोग इमारतों में किया जाने लगा। निर्माण-कार्य हेतु अस्थायी पदार्थों को क्रमशः त्यागने एवं स्थायी पदार्थों को अपनाने की प्रवृत्ति का विकास इस युग में देखने को मिलता है।

१. उदाहरणार्थ बाराबर का अशोक गुहालेख—"लाजिना पियदसिना दुवाडसवसा-भिसितेना इयं निगोहकुभा दिना आजीविकेहि।" हुल्श, कार्पस, जिल्द १, पृ० १८१।
२. पर्सी ब्राउन, वही, पृष्ठ १५।

अध्याय ५

शुंग-सातवाहन युग

अन्तिम मौर्य-शासक बृहद्रथ का अन्त उसके सेनापति पुष्यमित्र शुंग द्वारा ई० पूर्व १८५ में किया गया। पुष्यमित्र का आधिपत्य मगध साम्राज्य के एक बड़े भाग पर स्थापित हो गया। वह तथा उसके वंशज वैदिक धर्म के अनुयायी थे। पुष्यमित्र के द्वारा दो अश्वमेध किये गये। उसके वंशजों का आर्यावर्त के विभिन्न क्षेत्रों पर अधिकार स्थापित हुआ। मगध के मुख्य क्षेत्र के अतिरिक्त वत्स (राजधानी कौशाम्बी), कोसल (अयोध्या), शूरसेन (मथुरा), पंचाल (अहिच्छत्रा) तथा दशार्ण (विदिशा) पर शुंग-मित्र राजाओं के आधिपत्य का पता अनेक अभिलेखों तथा बहुसंख्यक सिक्कों से चलता है। विदिशा में पुष्यमित्र का बड़ा पुत्र अग्निमित्र शासक था। उसके वंश के नवें शासक काशी-पुत्र भागभद्र (भागवत) के शासन-काल में तक्षशिला के यवनराज अन्तलिकित द्वारा प्रेषित हेलियोदोर नामक राजदूत विदिशा गया। उसने वहाँ के प्राचीन विष्णु-मन्दिर के सामने एक 'गरुड़ध्वज' स्थापित किया। इसका पता उस गरुड़ध्वज-स्तम्भ पर खुदे हुए ब्राह्मी लेख से चलता है।

लगभग ७३ ई० पूर्व में दशार्ण क्षेत्र में अग्निमित्र-वंश का अन्त हुआ। इस वंश के अन्तिम शासक देवभूति को उसके अमात्य वसुदेव ने समाप्त कर दिया। कण्व-वंश के चार शासकों के नाम पुराणों में मिलते हैं और उन सबका कुल राज्य-काल ४५ वर्ष दिया है। कण्वों को आन्ध्रजातीय सिमुक या शिमुक के द्वारा समाप्त किया गया।

आन्ध्र का सातवाहन राज-वंश तथा उसके भृत्य-शासकों ने कुल मिलाकर लगभग ४५० वर्ष शासन किया। इस वंश का आरम्भिक उदय वर्तमान आन्ध्रप्रदेश के तेलंगाना क्षेत्र में लगभग २२५ ई० पूर्व में हुआ। हैदराबाद के समीप कोंडापुर नामक स्थान से कुछ वर्ष पूर्व ताँबे के ऐसे सिक्के मिले थे जिनपर सातवाहन नामक राजा का नाम लिखा है। उसके कुछ सिक्के महाराष्ट्र के नेवासा नामक प्राचीन स्थल की खुदाई से भी मिले हैं। इसी राजा के नाम पर इस वंश का नाम 'सातवाहन वंश' प्रसिद्ध हुआ। बाद में आन्ध्र-क्षेत्र के बड़े भाग पर इस वंश का आधिपत्य फैल जाने के कारण उसका नाम आन्ध्र (या आन्ध्र)

वंश भी नष्ट हो गया। धीरे-धीरे सातवाहनों ने सुदूर दक्षिण के अंश को छोड़कर प्रायः सम्पूर्ण दक्षिण पर अपना अधिकार कर लिया। उनके साम्राज्य में महाराष्ट्र तथा सुराष्ट्र, गुजरात एवं अवन्ति-दशार्ण क्षेत्र के कुछ भाग भी सम्मिलित हो गये। ईसवी दूसरी शती में सातवाहनों को पश्चिमी भारत तथा मालवा में अपने प्रतिस्पर्धी क्षहरातों एवं शक-क्षत्रपों से लोहा लेना पड़ा। लगभग दूसरी शती के मध्य से सातवाहन-सत्ता मुख्य रूप से महाराष्ट्र के एक बड़े भाग तथा दक्षिण भारत पर कायम रही। सातवाहन-वंशी शासक वैदिक मतावलम्बी थे। इस वंश में सातकर्णि प्रथम, गौतमीपुत्र सातकर्णि, वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी, यज्ञश्री शातकर्णि आदि प्रसिद्ध शासक हुए।

आन्ध्रप्रदेश के पूर्वी क्षेत्र पर सातवाहनों की सत्ता का अन्त होने पर इक्ष्वाकु-वंश का शासन स्थापित हुआ। इस वंश के शासक भी वैदिक मतावलम्बी थे। शुंग, सातवाहन तथा इक्ष्वाकु-वंश के शासक वैदिक धर्मावलम्बी थे। उनके समय में वैदिक धर्म का अभ्युत्थान तथा उससे सम्बन्धित कला-कृतियों का निर्माण हुआ। इन तीनों राज-वंशों ने धार्मिक सहिष्णुता की नीति को अपनाया। उनके शासन-काल में बौद्ध तथा जैन धर्म की भी उन्नति हुई, जिसमें इन राजवंशों का बड़ा योग रहा। उक्त राजवंशों की अनेक रानियाँ बौद्ध धर्म के प्रति विशेष श्रद्धालु थीं, जिसका पता अभिलेखों से चलता है। शुंगों के शासन-काल में भरहुत, बोधगया और सांची के प्रसिद्ध बौद्ध स्तूपों का संस्कार हुआ। इन स्मारकों में कई नये अंगों का संयोजन हुआ। भरहुत (जिला सतना, मध्य प्रदेश) के स्तूप का तोरण-द्वार शुंगों के शासन में ('सुगनरजे') कौशाम्बी के राजा धनभूति के समय में निर्मित हुआ, ऐसा तोरण पर उत्कीर्ण ब्राह्मीलेख से ज्ञात हुआ है। कौशाम्बी, सारनाथ, मथुरा, अहिच्छत्रा, विदिशा आदि में वैदिक धर्म के साथ-साथ बौद्ध एवं जैन धर्म का विकास हुआ। स्थापत्य तथा मूर्ति-कला की अनेक कृतियाँ इन स्थानों में निर्मित हुईं। वे इस बात का उद्घोष करती हैं कि शुंग-मित्र शासक धर्म के प्रति व्यापक दृष्टिकोण रखते थे।

सातवाहनों के लम्बे शासन-काल में पश्चिम तथा दक्षिण भारत में कला का सर्वतोमुखी उन्मेष हुआ। पश्चिम भारत में कार्ले, भाजा, नासिक, पितलखोरा, अजन्ता आदि स्थानों में शैल-गृहों एवं मूर्तियों का निर्माण बड़ी संख्या में हुआ। आन्ध्रप्रदेश के अमरावती, घंटशाल, गोली आदि स्थानों पर विशाल स्तूपों का निर्माण हुआ। इक्ष्वाकुओं के शासन-काल में यह प्रवृत्ति जारी रही और उन्होंने नागार्जुनी कोंडा, जग्गय्यपेट आदि स्थानों पर महास्तूप बनवाये।

इस समय भारत पर विदेशी आक्रमणों में वृद्धि हुई। मौर्य-साम्राज्य के टूटने के बाद उत्तरी-पश्चिमी दर्रों से तथा बलोचिस्तान-सिन्ध मार्ग से विदेशियों का भारत में आगमन बढ़ गया। यूनानियों, शकों तथा पह्लवों ने भारत की गिरती हुई राजनीतिक शक्ति का लाभ उठाकर भारत के आभ्यन्तरिक क्षेत्रों को हथियाना शुरू कर दिया। सीमान्त प्रदेश तथा पंजाब के एक बड़े भाग पर यूनानियों ने और उनके पश्चात् शक-पह्लवों ने अपना अधिकार स्थापित किया, जो प्रायः ई० प्रथम शती के पूर्वार्ध तक जारी रहा। उसके बाद कुषाणों ने पश्चिमोत्तर भारत का एक बड़ा भाग अपने अधीन कर लिया। कुषाण सम्राट कनिष्क प्रथम, हुविष्क तथा वासुदेव प्रथम के शासन-काल में कला की बड़ी उन्नति हुई। कनिष्क ने बौद्ध धर्म को प्रोत्साहन दिया। इसके फलस्वरूप कुषाण साम्राज्य में बौद्ध-वास्तु तथा मूर्तिकला की श्रीवृद्धि हुई।

पश्चिम भारत पर शकों ने अपना आधिपत्य स्थापित किया। ईसवी पूर्व द्वितीय-प्रथम शती के अनेक शक-शासकों के सिक्के उज्जैन और उसके समीपस्थ क्षेत्र से मिले हैं, जो इस बात के सूचक हैं कि तब तक इस भूभाग पर विदेशी शकों का अधिकार हो गया था। ई० द्वितीय शती के प्रारम्भ में काठियावाड़-गुजरात क्षेत्र पर क्षहरात-शक अधिकारारूढ़ हुए। इस वंश के प्रसिद्ध शासक नहपान को सातवाहन-नरेश गौतमीपुत्र सातकर्णि ने परास्त किया। क्षहरातों के बाद शक-क्षत्रपों का शासन सुराष्ट्र-गुजरात के अतिरिक्त पश्चिमी मालवा तथा राजस्थान एवं महाराष्ट्र के कुछ भाग पर फैल गया। क्षत्रपों का यह राज-वंश चष्टन-वंश कहलाता है। इसमें रुद्रदामा प्रथम प्रसिद्ध शासक हुआ। उसके जूनागढ़ अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने अपने समकालीन सातवाहन-नरेश को परास्त कर उसके राज्य के बड़े भाग पर अधिकार कर लिया था। शक-क्षत्रपों का शासन ई० चौथी शती के अन्त तक पश्चिमी भारत में चलता रहा। उनका उन्मूलन चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के द्वारा किया गया।

विदेशी होते हुए भी शक-पह्लवों, कुषाणों, क्षहरातों तथा क्षत्रपों ने ललित कलाओं की उन्नति में योग दिया। जहाँ तक स्थापत्य का सम्बन्ध है, उनके शासन में बहुसंख्यक मन्दिरों, चैत्यगृहों, स्तूपों और विहारों का निर्माण हुआ। उक्त नरेशों की मुद्राओं पर अनेक भारतीय देवताओं के अतिरिक्त मेरु, सूर्य, चन्द्र, सरिता, वज्र, बाण आदि के अंकन प्राप्त हुए हैं। भारतीय संस्कृति का इन शासकों पर उल्लेखनीय प्रभाव पड़ा।

विवेच्य युग में भारत में विभिन्न व्यवसायों का विकास हुआ और व्यापार को विशेष प्रोत्साहन मिला। अनेक बड़े मार्गों का निर्माण हुआ, जो महत्वपूर्ण नगरों से होकर जाते

थे। तत्कालीन आर्थिक समृद्धि का प्रभाव अन्य क्षेत्रों की भाँति ललित कलाओं पर भी पड़ा। पूर्ववर्ती युगों में वास्तु तथा मूर्तिकला के मुख्य माध्यम के रूप में लकड़ी का प्रयोग होता था। अब उसका स्थान पत्थर और ईंट ने ले लिया। भरहुत, साँची, मथुरा, अमरावती, नागार्जुनीकोंडा आदि स्थानों पर अनेक स्तूपों और मन्दिरों का निर्माण इस काल में किया गया। इनमें पाषाण और ईंट का प्रयोग अधिक मिलता है।

स्तूप-निर्माण

शिला या शरीर-धातु के ऊपर बनाये जाने वाले प्रारम्भिक स्तूपों का स्थान अब विशाल स्तूपों ने ग्रहण किया। देश के विभिन्न स्थानों पर महास्तूपों का निर्माण इस युग की एक महत्वपूर्ण देन है। ये स्तूप साधारण स्मारक न होकर पूजार्थ महाचैत्यों के रूप में निर्मित हुए। इनमें विशालता के साथ-साथ चमत्कार की भावना दर्शनीय है। अनेक स्तूप पवित्र स्थानों पर बनाये गये। पर भरहुत-जैसे स्तूपों का निर्माण ऐसे स्थानों पर हुआ जिनका विशेष धार्मिक महत्व न था, बल्कि स्थानों के भौगोलिक महत्व को देखते हुए उनका निर्माण किया गया। 'महापरिनिब्बान सुत्त' में चार प्रकार के स्तूप वर्णित हैं :

(१) तथागत गौतम बुद्ध के स्मारक, (२) प्रत्येक बुद्धों के स्मारक, (३) मुख्य बौद्ध श्रावकों के स्मारक, (४) चक्रवर्ती राजाओं के स्मारक।

इनमें से प्रथम तीनों वर्ग के स्तूप शुंग-सातवाहन काल में निर्मित हुए। यह आवश्यक नहीं था कि सभी स्तूपों के नीचे शरीर-अवशेष रखे जाएँ। अनेक स्तूपों में किसी प्रकार के धातु-अवशेष नहीं प्राप्त होते। ऐसे स्तूपों का निर्माण धर्मविशेष को जनप्रिय बनाने के लिए किया जाता था। इनमें धर्मविशेष की मान्यताओं के अतिरिक्त लोक-जीवन के अनेक रोचक तत्वों का प्रदर्शन किया जाता था। इसी कारण विशाल स्तूपों के अलंकरण में प्रकृति के अनेक रूपों के साथ-साथ लोकजीवन के मनोरंजक तत्व विविध कथाओं, प्रतीकों और अभिप्रायों के रूप में उपलब्ध होते हैं। शुंग-सातवाहन युग में अलंकरण के रूप में पशु-पक्षी, नाग-नागी, श्री-लक्ष्मी, सुपर्ण, किन्नर, अप्सरा, मंगल-घट, वेष्टित कल्पवृक्ष, पुष्पवल्ली, स्वस्तिक, त्रिरत्न, चक्र, ध्वज आदि अभिप्राय प्राप्त होते हैं। इन अलंकरणों से मण्डित स्तूप मृत्यु, विनाश या निराशा के परिचायक न होकर आनन्दमय जीवन के प्रतीक बने। जीवन को आनन्द से पूर्ण मंगलघट के समान माना गया, जिसमें किसी प्रकार के दुःख या निराशा की भावना न थी। स्तूपों के तोरण-द्वारों तथा वेदिकाओं पर जीवन के विस्तृत आनन्दमय पक्ष का आलेखन मिलता है, जो गीत-वाद्य, नृत्य, शोभा-यात्रा आदि के रूप में प्रस्फुटित

हुआ है। बौद्ध-साहित्य में कहा गया है कि तथागत के सम्मान में ऐसे स्तूप का निर्माण किया जाना चाहिए जो किसी चक्रवर्ती के स्मारक-जैसा लगे।[1] इस युग के महाचेतिय (महाचैत्य) धार्मिक चक्रवर्तित्व के प्रतिनिधि-जैसे लगते हैं।

महास्तूप की तकनीक

बौद्ध-साहित्य में महास्तूप की निर्माण-विधि के उल्लेख मिलते हैं। महावंश में इसे 'महाथूप' या 'महाचेतिय' कहा है। पाषाण-निर्मित स्तूप के लिए 'सिलाथूप' शब्द प्रयुक्त होता था। नगर-सन्निवेश तथा मन्दिर-निर्माण के पूर्व जिस प्रकार भूमि-पूजन आदि के कार्य आवश्यक समझे जाते थे उसी प्रकार स्तूप-निर्माण के पूर्व राजा या स्तूप का प्रमुख निर्माता भूमि की विधिवत् पूजा करता था। भूमि-पूजा के बाद इमारत की नींव रखी जाती थी और क्रमशः शेष कार्य सम्पन्न होते थे। मुख्य स्तूप की संज्ञा 'चेतिय' थी। उसके चारों ओर तोरण सहित वेदिका का निर्माण किया जाता था। बौद्ध-साहित्य में उसे 'चेतियवट्ट' (या चैत्यावर्त) कहा गया है। कल्पवृक्ष को वेदिका से वेष्टित करने की प्राचीन वैदिक परम्परा परवर्ती स्तूपों की वेदिकाओं में प्राप्त होती है। बौद्ध-साहित्य में वर्णित स्तूप-निर्माण की तकनीक भरहुत, साँची, मथुरा, अमरावती तथा नागार्जुनीकोंडा के विशाल स्तूपों में परिलक्षित होती है।[2]

विशाल स्तूपों का निर्माण बड़े शिला-खण्डों की दृढ़ नींव के ऊपर किया जाता था। इस नींव को 'पाषाणकुट्टिम' कहते थे। उसके ऊपर एक गोला बनाया जाता था, जिसे 'अण्ड' कहते थे। प्रारम्भिक स्तूपों का यह भाग प्रायः घटाकार होता था। परवर्ती स्तूपों में अण्ड का भाग अधिक लम्बोतरा हो जाता है। अण्ड के ऊपरी भाग को समतल रखा जाता था। उसके ऊपर एक छोटा चबूतरा बना कर उसे भी वेदिका से आवेष्टित किया जाता था। इस अंश को 'हर्मिका' कहा जाता था, जो देवता का निवास माना जाता था। हर्मिका के मध्य में दण्ड या यष्टि लगायी जाती थी। उसके ऊपर तीन छत्रों की छत्रावली होती थी। इन छत्रों की संख्या बाद में बढ़कर सात हो गयी।

शुंग-सातवाहन युग में स्तूप को चारों ओर से वेदिका द्वारा घेरने की परम्परा दृढ़ हो गयी। वैदिक वेदि के चारों ओर जो वेष्टन किया जाता था उसी से परवर्ती वेदिका का निर्माण हुआ। सम्राट् अशोक के समय में भी स्तम्भों के चारों ओर वेदिका-निर्माण

१. दे० अग्रवाल, इंडियन आर्ट, पृष्ठ १२३-२४।

२. तकनीक के विस्तार के लिए दे० अग्रवाल, वही, पृष्ठ १२४-२८।

की परम्परा मिलती है। अशोक के रुम्मिनदेई-अभिलेख से ज्ञात होता है कि भगवान् बुद्ध के जन्म-स्थान पर अपने द्वारा स्थापित स्तम्भ के चारों ओर अशोक ने पत्थर का बाड़ा बनवाया। पुलुम्बी-अभिलेख में इस प्रकार के बाड़े के लिए 'प्राकार' शब्द का प्रयोग किया गया है। भरहुत, साँची आदि के स्तूपों के चारों ओर बनायी गयी महावेदिका के अवशेष प्राप्त हुए हैं। वेदिका के चार भाग होते थे। नीचे का पाषाण 'आलम्बन' कहलाता था। उसके ऊपर सीधे स्तम्भ खड़े किये जाते थे। दो-दो स्तम्भों के बीच में तीन-तीन आड़े पत्थर लगाये जाते थे। इन आड़े पत्थरों को 'सूची' कहते थे। इनके सिरों को खड़े पत्थरों में बनाये गये खाँचों में मजबूती के साथ फँसा दिया जाता था। खड़े स्तम्भों के ऊपर अनेक सिरदल रखे जाते थे जिन्हें 'उष्णीष' कहते थे। उष्णीष के इन पत्थरों के ऊपरी भाग को गोलाकार बनाया जाता था। उन पर दोनों ओर अनेक प्रकार के अलंकरणों तथा कथाओं का चित्रण किया जाता था। खड़े तथा सूची के स्तम्भों को भी विविध मूर्तियों, लोक-कथाओं, अलंकरणों आदि से चित्रित करते थे। वेदिका की चारों दिशाओं में प्रत्येक ओर एक प्रवेश-द्वार होता था, जो 'तोरण' कहलाता था। तोरण-द्वारों को विविध रोचक अलंकरणों से सुसज्जित करते थे।

स्तूप तथा महावेदिका के बीच छूटे हुए स्थान को प्रदक्षिणा-पथ कहते थे। मुख्य प्रदक्षिणा-पथ के अतिरिक्त ऐसा दूसरा पथ भी अण्ड के प्रायः मध्य भाग में बनाया जाता था। उसके चारों ओर लघु वेदिका रहती थी। तीसरा प्रदक्षिणा-पथ हर्मिका के चारों ओर रहता था, जिसकी वेदिका सबसे छोटी होती थी।

भरहुत

मध्यप्रदेश के सतना नगर से लगभग ९ मील दक्षिण भरहुत गाँव है। उसके समीप शुंग-काल में एक भव्य स्तूप का निर्माण हुआ, जिसके अधिकांश अवशेष इस समय कलकत्ता के राष्ट्रीय संग्रहालय में सुरक्षित हैं। अन्य अनेक अवशेष भारत तथा विदेशों के संग्रहालयों में विद्यमान हैं। कौशाम्बी से जो मार्ग दक्षिण-पश्चिम में विदिशा की ओर जाता था उस मार्ग पर भरहुत स्थित था। यहीं से दूसरा रास्ता बांधवगढ़ होता हुआ दक्षिण कोशल को जाता था। इस स्थान के महत्व को देखते हुए सम्भवतः अशोक के द्वारा यहाँ स्तूप का निर्माण किया गया। इसके बाद ई० पूर्व द्वितीय शती में स्तूप का विस्तार किया गया, जिसका व्यास आधार पर ६७ फुट ८ इंच था। स्तूप सादी ईंटों का बना था। उसकी नींव बड़े शिला-खण्डों की थी। स्तूप के चारों ओर वेदिका निर्मित थी, जिसके चारों ओर एक-एक तोरण-द्वार बनाया गया। स्तूप तथा वेदिका के बीच १० फुट ४ इंच चौड़ा प्रदक्षिणा-पथ था। वेदिका में कुल ८० स्तम्भ थे,

जिनमें से प्रत्येक की ऊँचाई ७ फुट १ इंच थी। स्तम्भों के ऊपर रखे हुए उष्णीषों की कुल मिलाकर लम्बाई लगभग ३३० फुट थी। स्तम्भ-युगलों के बीच सूचियाँ लगी थीं। प्रत्येक तोरण-द्वार के दोनों ऊँचे खम्भों पर समानान्तर जाती हुई तीन बँड़ेरियाँ (धरन) लगी थीं। इन तीनों को एक-दूसरे से पत्थर के चौकोर टुकड़ों द्वारा पृथक् किया गया था।

इस महत्वपूर्ण स्तूप की खोज जनरल कनिंघम के द्वारा १८७३ ई० में की गयी। कनिंघम को वेदिका के कुल ४७ स्तम्भ प्राप्त हुए। इनमें से ३५ भरहुत के मुख्य स्थान से तथा शेष १२ समीप के दो गांवों—बटनमारा तथा पतौरा—से प्राप्त हुए। कुल ८० लम्बे उष्णीषों में से कनिंघम को १६ प्राप्त हुए। बाद में श्री ब्रजमोहन व्यास के प्रयत्नों से भरहुत वेदिका के ३३ स्तम्भ, ३ सूची तथा १४ उष्णीष प्राप्त हुए। स्तूप के अन्य अवशेष भी उन्हें मिले। ये सब वस्तुएँ अब प्रयाग संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

भरहुत के प्राप्त अवशेषों तथा अनेक शिलापट्टों पर उत्कीर्ण आकृतियों से यहाँ के शुंगकालीन विशाल स्तूप के स्वरूप का पता चलता है। ज्ञात हुआ है कि यह स्तूप घण्टाकार था। अण्ड के ऊपर वर्गाकार चबूतरा था, जिस पर यष्टि तथा छत्र बने हुए थे। छत्रों पर पुष्प-हार बने थे। तोरण-द्वार के प्रत्येक स्तम्भ की ऊँचाई ६ फुट ७॥ इंच है। पूर्वी तोरणद्वार पर उत्कीर्ण ब्राह्मी अभिलेख से ज्ञात हुआ है कि उसका निर्माण शुंगों के शासन में कौशाम्बी के शासक अंगराज के पुत्र धनभूति के द्वारा कराया गया। एक दूसरे अभि-लेख के अनुसार इसी धनभूति ने तोरण, वेदिका एवं रत्नगृह-युक्त एक अन्य स्तूप का निर्माण मथुरा में कराया था।

भरहुत तोरण-द्वारों के स्तम्भ अठपहलू तथा चौपहलू हैं। उनके ऊपर घण्टात्मक शीर्ष हैं, जिन पर सपक्ष सिंह तथा वृषभ प्रदर्शित हैं। तोरण की बँड़ेरियों के बहिर्भागों पर मुँह खोले हुए मकरों के अलंकरण हैं। बँड़ेरियों के मुख्य भागों पर मानवाकृतियों के अतिरिक्त सिंहों, गजों आदि के अभिप्राय अत्यन्त प्रभावोत्पादक हैं। तीनों बँड़ेरियों को एक-दूसरे से अलंकृत स्तम्भों द्वारा जोड़ा गया है। सबसे ऊपर की बँड़ेरी पर दोनों ओर धर्मचक्र और नन्दिपद प्रदर्शित हैं। इस बँड़ेरी के मध्य भाग पर पुष्पालंकरण के ऊपर चक्र बना है।

भरहुत के तोरण-द्वारों तथा स्तम्भों, सूचियों, उष्णीषों आदि पर विविध मनोरंजक चित्रण मिलते हैं। प्राकृतिक दृश्यों के अतिरिक्त लोक-जीवन की अनेक मान्यताओं को रोचक ढंग से प्रदर्शित किया गया है। जातकों के अनेक दृश्य, सम्बन्धित जातक के नाम सहित, उत्कीर्ण हैं। इनके अतिरिक्त पशु-पक्षी, लता-वृक्ष, यक्ष-यक्षी आदि भी अंकित

किये गये हैं। आलेखित दृश्यों में मायादेवी का गर्भधारण, राजाओं एवं अन्य उच्च वर्गीय जनों तथा जनसाधारण द्वारा धर्म-यात्राएँ एवं पूजा-दृश्य, कुबेरादि यक्षों, चक्रवाक आदि नागों तथा विविध देवी-देवताओं के दृश्य उल्लेखनीय हैं। सम्राट् प्रसेनजित तथा अजातशत्रु की धार्मिक यात्राओं के प्रदर्शन के दृश्य विशेष महत्त्व के हैं। लगभग दो दर्जन जातक-कथाओं के दृश्य साँची-कला में मिलते हैं। अनाथपिण्डिक द्वारा भूमि पर मुद्राएँ बिछा कर जेतवन को खरीदने का दृश्य भी एक स्थान पर है। कुछ दृश्य हास्य-व्यंग्य-सम्बन्धी हैं। एक स्थान पर बन्दर, जंगली हाथी को पकड़कर लाते हुए दिखाये गये हैं। दूसरे स्थान पर बन्दरों द्वारा हाथी की सहायता से एक भारी-भरकम यक्ष को पीड़ा से मुक्त किया जा रहा है। लोक-जीवन के विविध अंगों के अध्ययन की दृष्टि से भारतीय इतिहास में भरहुत-कला का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है।

भरहुत की अनेक कलाकृतियों पर राजप्रासाद, पुष्पशाला, पर्णकुटी तथा साधारण भवनों के दृश्य मिलते हैं। दैनिक जीवन के लिए उपयोगी विविध वस्तुएँ भी भरहुत-कला में द्रष्टव्य हैं।[1]

बुद्ध की मानव-प्रतिमा का भरहुत-कला में नितान्त अभाव है। बुद्ध से सम्बन्धित अनेक प्रतीकों को ही यहाँ की कला में अंकित किया गया है।

साँची

भरहुत-स्तूप के निर्माण के कुछ समय बाद विदिशा के समीप साँची नामक स्थान पर कई स्तूपों का निर्माण हुआ। साँची विदिशा नगर से लगभग ६ मील दक्षिण स्थित है। इसका एक प्राचीन नाम 'काकनादबोट' मिलता है। ईसा पूर्व तीसरी शती से लेकर गुप्त-काल तक के अवशेष साँची और उसके आसपास बड़ी संख्या में मिले हैं। उन्हें देखने से पता चलता है कि साँची एक दीर्घ काल तक बौद्ध धर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा। मौर्य-सम्राट् अशोक के समय यहाँ एक विशाल स्तूप का निर्माण हुआ। उसके बाद यहाँ अनेक स्तूप, विहार और मन्दिर बने। इससे इस स्थान का नाम 'चैतिय गिरि' (चैत्य गिरि) प्रसिद्ध हो गया। विदिशा नगरी विवेच्य काल में भारत की अत्यन्त समृद्ध नगरी थी। यहाँ के निवासियों ने साँची तथा उसके आसपास अनेक कलापूर्ण स्मारकों का निर्माण कराते

१. भरहुत-कला के विस्तृत विवरण तथा अनेक दृश्यों के मौलिक विवेचन के लिए देखिये वासुदेवशरण अग्रवाल, इंडियन आर्ट, पृष्ठ १२८, १४८ तथा वेणीमाधव बरुआ, भरहुत, भाग १-३।

में प्रमुख भाग लिया। साँची के मुख्य स्तूप के चारों ओर अत्यन्त कलापूर्ण चार तोरण-द्वार सातवाहनों के समय में बनाये गये।

साँची की स्थिति मुख्य व्यापारिक मार्ग पर थी। आवागमन के मुख्य स्थल पर होने के कारण यह स्थान भव्य स्तूपों के निर्माण का केन्द्र बन गया। अशोक के समय से लेकर ई० नवीं शती तक यहाँ निर्माण के विविध कार्य चलते रहे। अशोक की विदिशा वाली पत्नी द्वारा यहाँ एक विहार बनवाने का उल्लेख बौद्ध-साहित्य में मिलता है। कनिंघम ने साँची और उसके आसपास के क्षेत्र का सर्वेक्षण करके लगभग ६० स्तूपों का पता लगाया।[1] ये स्तूप साँची के अतिरिक्त सुनारी, सतधारा, अंधेर तथा भोजपुर नामक स्थानों पर स्थित हैं। इनमें सबसे प्रसिद्ध साँची के तीन स्तूप हैं। संख्या १ तथा ३ वाले स्तूप पहाड़ी के पश्चिमी भाग पर स्थित हैं। संख्या २ का स्तूप उनसे कुछ दूर नीचे स्थित है।

स्तूप संख्या १—इस स्तूप का निर्माण आरम्भ में सम्राट् अशोक के समय में हुआ था। उस समय यह मिट्टी तथा ईंटों का बना हुआ था। ई० पूर्व द्वितीय शती के उत्तरार्ध में सातवाहनों के आधिपत्य में इस स्तूप के चारों ओर वेदिकाओं तथा तोरणद्वारों का निर्माण हुआ। दक्षिणी द्वार की एक बँड़ेरी (पाटांग) पर उत्कीर्ण ब्राह्मी लेख के अनुसार सातवाहन राजा सातकर्णि के समय में उसके मुख्य स्थपति आनन्द के द्वारा इस तोरणद्वार का निर्माण कराया गया। अन्य तोरणों की कला तथा उन पर उत्कीर्ण लेखों से ज्ञात होता है कि मुख्य स्तूप के चारों ओर वेदिका सहित सभी तोरण-द्वारों का निर्माण ई० पूर्व प्रथम शती के आरम्भ तक पूरा हो गया था। सातवाहनों के पश्चात् गुप्तकाल तथा पूर्व-मध्यकाल में महाचेतिय गिरि के स्मारकों का पुनरुद्धार-कार्य जारी रहा।

मुख्य-स्तूप संख्या १ का विस्तार अशोक के समय में वर्तमान स्वरूप का लगभग आधा था। इस समय स्तूप का व्यास १२० फुट तथा उसकी ऊँचाई ५४ फुट है। स्तूप का सम्पूर्ण भाग पत्थरों से आच्छादित। इन पत्थरों को चूने से नहीं जोड़ा गया, केवल पत्थरों के ऊपर ४ इंच मोटा लेप किया गया है। भरहुत-स्तूप की तरह यह स्तूप भी अर्ध-गोलाकार है। १६ फुट की ऊँचाई पर उसके चारों ओर 'मेधि' बनी है, जो ऊपरी प्रदक्षिणा-पथ का कार्य करती है। उसकी वेदिका छोटे खम्भों की बनी है। इस मेधि तक पहुँचने के लिए दुहरा सोपान-मार्ग स्तूप की दक्षिण दिशा में बनाया गया। अण्ड के ऊपरी आधार पर बनाये गये चबूतरे की ऊँचाई १५ फुट ६ इंच है। उसके दोनों ओर

१. कनिंघम, भिलसा टोप्स, पृष्ठ ५-६।

बने प्रत्येक सोपान में २४ सीढ़ियाँ हैं। स्तूप के शीर्ष पर हर्मिका, यष्टिदंड तथा छत्र बने हैं।

स्तूप के भूमितल पर स्तूप तथा बड़ी वेदिका के बीच मुख्य प्रदक्षिणा-मार्ग है। वेदिका के स्तम्भ, सूची तथा उष्णीष सादे हैं। उन पर ब्राह्मी लेख बड़ी संख्या में उत्कीर्ण हैं। वेदिका की ऊँचाई ११ फुट है तथा उसमें लगे खड़े स्तम्भ ६ फुट ऊँचे हैं। प्रत्येक युगल स्तम्भ के बीच २ फुट चौड़े ३-३ आड़े पत्थर लगे हैं। स्तम्भों को गोलाकार उष्णीष से आच्छादित किया गया।

सांची के मुख्य स्तूप की वेदिका तथा तोरणों पर ३७८ दान-लेख उत्कीर्ण हैं। अन्य स्तूपों पर भी ऐसे लेख मिले हैं। तीनों स्तूपों पर कुल मिलाकर ८२७ लेख पाये गये हैं। मुख्य स्तूप के पूर्वी द्वार पर गुप्त सं० ९३ (४१२ ई०) का लेख उत्कीर्ण है, जिसमें चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा दशार्ण की विजय का उल्लेख है।

मुख्य स्तूप के तोरण-द्वार अपनी कला के लिए प्रख्यात हैं। इनका रूप भरहुत के तोरणों से मिलता-जुलता है। परन्तु सांची के तोरण अधिक ऊँचे और कलापूर्ण हैं। उन पर मूर्तियों की बहुलता तथा कलाविधान भी अधिक प्रभावोत्पादक है। प्रत्येक तोरण-द्वार की ऊँचाई ३४ फुट है। स्तम्भों, बँड़ेरियों तथा उनके अन्तर्भागों को कला के विभिन्न उपादानों से भूषित किया गया। उन पर जातक-गाथाओं, स्तूप-बोधिवृक्ष की पूजा तथा गौतम बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित अनेक घटनाओं को कलाकारों ने आकर्षक रूप प्रदान किया।

स्तूप संख्या २—प्रथम स्तूप से कुछ दूर संख्या २ वाला स्तूप है। यह एक छोटे चबूतरे के ऊपर बना है। इस स्तूप के भीतर कतिपय बौद्ध आचार्यों एवं धर्म-प्रचारकों के अस्थि-अवशेष थे। इस स्तूप के निर्माण का स्वरूप प्रथम स्तूप से मिलता-जुलता है। इसका व्यास ४७ फुट था और कुल ऊँचाई ३७ फुट। सतह की वेदिका में ८८ स्तम्भ थे। इस स्तूप में कुल ३ वेदिकाएँ थीं। भूतल वाली वेदिका में अनेक महत्त्वपूर्ण विषय उत्कीर्ण हैं। इनमें से अनेक विषय मुख्य स्तूप-जैसे हैं। गौतमबुद्ध का जन्म, सम्बोधि, धर्मचक्र-प्रवर्तन तथा परिनिर्वाण को क्रमश: कमल, पीपल, वृक्ष, चक्र तथा स्तूप के प्रतीकों द्वारा दिखाया गया है। नाग, यक्ष, सुपर्ण, ईहामृग आदि का अंकन भी सुरुचिपूर्ण है। इनमें अश्वमुखी तथा मत्स्यपुच्छ वाले किन्नर-मिथुन का अंकन द्रष्टव्य है। इस वेदिका पर त्रिरत्न, नन्दिपद, श्रीवत्स आदि प्रतीक भी अंकित हैं। जैन-ग्रन्थ 'रायपसेणियसुत्त' में 'पद्मवरवेदिका' का जो वर्णन मिलता है उसका सुन्दर आलेखन इस स्तूप की वेदिका पर

मिलता है। कंकाली टीला के जैन स्तूप का कला-विधान साँची के इस स्तूप से बहुत साम्य रखता है। सोपान-मार्ग की वेदिका तथा हर्मिका में भी सादे अलंकरण मिलते हैं। श्री लक्ष्मी, गज-लक्ष्मी तथा पद्मलताधारी यक्षों के आलेखन विशेष रोचक हैं।

स्तूप संख्या ३—मुख्य स्तूप के उत्तर-पूर्वी ओर तीसरा स्तूप है। यह सारिपुत्त तथा महामोग्गलायन नामक बुद्ध के दो प्रमुख शिष्यों के अवशेषों पर निर्मित हुआ। इस स्तूप का व्यास ४९ फुट ६ इंच है तथा कुल ऊँचाई २५ फुट ४ इंच है। स्तूप के निर्माण में स्थानीय भारी पत्थरों का प्रयोग किया गया। इस स्तूप में केवल एक ही द्वार है। भूमितल की वेदिका तथा अण्ड के वास्तु को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि इसका निर्माण प्रथम दोनों स्तूपों के बाद हुआ। दुर्भाग्य से भूमितल की वेदिका अब प्रायः नष्ट हो चुकी है। इस स्तूप में भी वेदिकायुक्त सोपान था। तोरण-द्वार की ऊँचाई १७ फुट है। इसका अलंकरण-विधान प्रथम स्तूप-जैसा है। मुख्य कला-कृतियों में मालाधारी यक्ष, नागराज, गज-लक्ष्मी तथा देवसभा के दृश्य उल्लेखनीय हैं।

अशोक स्तम्भ—मुख्य स्तूप के दक्षिणी द्वार के समीप अशोक स्तम्भ टूटी हुई दशा में रखा है। इस स्तम्भ का शीर्ष, जो हंसमाला से अलंकृत है, साँची के संग्रहालय में सुरक्षित है। अपने सम्पूर्ण रूप में स्तम्भ की ऊँचाई ४२ फुट थी। कला की दृष्टि से यह स्तम्भ अत्यन्त सुन्दर है। इस पर पूर्ण-घट तथा पत्रावली अलंकरण हैं।

अर्द्धवृत्तीय मन्दिर—साँची में विवेच्य युग के दो मन्दिरों के अवशेष मिले हैं। इनकी संख्या क्रमशः १८ और ४० है। कार्ले के शैल-गृहों से इन मन्दिरों की कला मिलती-जुलती है। पहला मन्दिर स्तूप संख्या १ के दक्षिणी द्वार के सामने है। उसका अर्द्ध-वृत्त कक्ष मजबूत दीवार से घिरा है। उसके कक्ष की भीतरी और बाहरी दीवारें पत्थर की हैं। मन्दिर के स्तम्भ १७ फुट ऊँचे हैं तथा ऊपर की ओर शुण्डाकार हैं। संख्या ४० वाला मन्दिर बोधिगिरि के दक्षिणी क्षेत्र में था। इस मन्दिर के बाहर प्रदक्षिणा-पथ भी था। मन्दिर में प्रवेश दो ओर से था। इसकी रचना बाराबर पहाड़ी के शैल-गृहों की याद दिलाती है।[1]

साँची के उक्त स्मारक भारतीय स्थापत्य और मूर्तिकला की अमर कृतियाँ हैं। इनमें अब से लगभग दो हजार साल पूर्व भारतीय लोक-जीवन की कितनी ही मधुर गाथाएँ संजोयी हुई हैं। भरहुत की भाँति साँची की कला में छोटे-बड़े, गरीब-अमीर, साधु-गृहस्थ

१. द्रष्टव्य वासुदेवशरण अग्रवाल, वही, पृष्ठ १४८-७२।

पक्षी के जीवन की आनन्दमय अभिव्यक्ति मिलती है। प्रकृति और मानव-जीवन का जो सामंजस्य भारतीय साहित्य में वर्णित है उसे हम साँची की कला में मूर्तिमान् पाते हैं।

धार्मिक एवं सामाजिक मान्यताओं, उत्सवों तथा आमोद-प्रमोद की झाँकी साँची के बहुसंख्यक अवशेषों में मिलती है। स्तूपों के चारों ओर लगी हुई वेदिकाओं तथा तोरणों पर विविध प्रकार के बहुसंख्यक दृश्य उकेरे हुए हैं। अनेक शिलापट्टों पर भगवान् बुद्ध के प्रमुख चिह्नों—बोधिवृक्ष, धर्म-चक्र, स्तूप तथा भिक्षापात्र—के पूजन में तल्लीन स्त्री-पुरुष दिखाये गये हैं। महाकपि जातक, छद्दन्त जातक, श्याम जातक आदि कथाओं का आलेखन अत्यन्त मनोग्राही हुआ है। बुद्ध के जीवन की प्रमुख घटनाओं को भी अनेक स्थलों पर उत्कीर्ण किया गया है।

साँची की कला में सामाजिक उत्सवों का प्राचुर्य मिलता है। स्त्री-पुरुषों के समूह गीत-वाद्य में तल्लीन अथवा नृत्य करते हुए इन उत्सवों में भाग लेते हुए दिखाये गये हैं। इस प्रकार की सामूहिक यात्राएँ समय-समय पर हुआ करती थीं। उनमें संगीत की प्रधानता रहती थी। वंशी, वीणा, ढोलक, मंजीरा, आदि वाद्य-यन्त्रों का प्रचलन था, जिन्हें साँची के तोरणों में देखा जा सकता है।

मनोविनोद के अन्य साधन उद्यान-यात्रा, पक्षी-क्रीड़ा, हाथी-घोड़ों की सवारी, आखेट, अक्ष-क्रीड़ा, मधुपान आदि थे। उद्यानों में पुष्पित वृक्षों के नीचे या सरोवरों के तट पर बैठकर आनन्द मनाने के कई दृश्य साँची में मिलते हैं। एक स्थान पर कदली-वन में विहार करते हुए गजारूढ़ स्त्री-पुरुष दिखाये गये हैं। दूसरी जगह एक राजा अपने सेवकों सहित आखेट के लिए जाता हुआ प्रदर्शित है। बहेलियों द्वारा शिकार करने के दृश्य भी मिले हैं। पक्षियों को पालना तथा उनके साथ अनेक तरह के खिलवाड़ करना प्राचीन भारतीयों के मनोरंजन का एक मुख्य साधन था। साँची की कला में ऐसे कितने ही सुन्दर चित्रण मिलते हैं जिनमें हंस, मयूर, शुक आदि पक्षियों के साथ क्रीड़ा करते हुए नर-नारी प्रदर्शित हैं। कहीं-कहीं सरोवरों के समीप विविध पक्षी उड़ते दिखाये गये हैं। मधु-पान के भी कई दृश्य हैं। सुन्दरांगी शालभंजिकाओं को विशेष आकर्षक मुद्राओं में वृक्षों की डालियाँ पकड़े हुए अंकित किया गया है।

प्राचीन भारतीय वेशभूषा की जानकारी के लिए भरहुत की तरह साँची के कलावशेष बड़े महत्त्व के हैं। विभिन्न वर्ग के स्त्री-पुरुषों का पहनावा इन कृतियों में देखने को मिलता है। साधारण वर्ग के लोग धोती, दुपट्टा (उत्तरीय) तथा भारी पगड़ी पहनते थे।

स्त्रियों को प्रायः साड़ी तथा उत्तरीय पहने दिखाया गया है। आभूषणों के धारण करने का रिवाज बहुत था। स्त्री-पुरुष अनेक प्रकार के आभरण पहने हुए दिखाये गये हैं। स्त्रियाँ बालों को अनेक आकर्षक ढंगों से सजाती थीं। विविध प्रकार के केश-विन्यासों को देखने से ज्ञात होता है कि तत्कालीन लोगों की कलात्मक रुचि कितनी विकसित थी। दो चोटियों (द्विवेणी) का प्रदर्शन कई स्त्री-मूर्तियों में मिलता है। बालों में फूल गूँथकर केशपाश को मण्डित करने की विशेष रुचि था।

साँची में उत्कीर्ण ब्राह्मी शिलालेख बड़ी संख्या में मिले हैं। अशोक के स्तम्भ पर उसका लेख खण्डित अवस्था में मिला है। वेदिकाओं पर बड़ी संख्या में प्राप्त लेखों से ज्ञात हुआ है कि भारत के विभिन्न स्थानों के लोगों ने साँची-स्तूपों के निर्माण में योग दिया था। इनमें राजा-रानी, भिक्षु-भिक्षुणी, साधारण जन सभी थे। महात्मा बुद्ध के दो प्रधान शिष्यों, सारिपुत्त तथा मोग्गलायन, और अन्य धर्म-प्रचारकों के नाम पाषाण-मंजूषाओं आदि पर मिले हैं। साँची के इन बहुसंख्यक शिला-लेखों से भारतीय समाज की तत्कालीन धार्मिक तथा सामाजिक स्थिति की प्रचुर जानकारी प्राप्त हुई है।[1]

बोधगया

मुख्य बौद्ध तीर्थों में बोधगया की भी गणना है। यह वह स्थान है जहाँ गौतमबुद्ध को सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति हुई। बोधगया बिहार में गया से ६ मील दक्षिण है। यहाँ का समीपस्थ 'उरेल' गाँव प्राचीन 'उरुविल्व' है, जहाँ काश्यप ऋषि तथा सुजाता का निवास था। बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार सम्राट् अशोक ने बुद्ध के ज्ञान-प्राप्ति के इस स्थान पर बोधि-मन्दिर का निर्माण कराया था। यहाँ जिस पीपल के वृक्ष के नीचे गौतम को ज्ञान की प्राप्ति हुई थी उसकी संज्ञा 'बोधिद्रुम' प्रसिद्ध हुई। जिस स्थान पर आसन लगाकर बुद्ध ध्यान-मग्न हुए थे वह 'बोधिमण्ड' कहलाया। इस स्थान का महत्व बहुत बढ़ा और यहाँ 'महाबोधि संघाराम' नामक बौद्ध केन्द्र की स्थापना हुई। भरहुत के एक शिलापट्ट पर अशोक के समय में निर्मित मन्दिर का दृश्य उत्कीर्ण मिलता है।[2] बोधगया के प्राचीन स्थान का पुनरुद्धार करते समय अशोककालीन बोधिमण्ड के अवशेष मिले थे। उसका निर्माण ओपदार पत्थरों से किया गया था। यह अंश अशोककालीन स्मारकों में द्रष्टव्य है। बोधिमण्ड या वज्रासन के चारों ओर अशोक के समय में रक्षा-दीवार या

१. साँची की वास्तुकला तथा मूर्तिकला का विस्तृत विवरण मार्शल ने अपने महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'साँची' (तीन जिल्दों में) दिया है।
२. अग्रवाल, वही, पृष्ठ १७२।

प्राकार का निर्माण करवाया गया था। उसका बाहरी विस्तार २५८ फुट था। आरम्भ में यह प्राकार ईंटों का था। शुंगकाल में उसे पाषाणवेदिका के रूप में परिवर्तित किया गया। यह वेदिका भरहुत, साँची मथुरा आदि की वेदिकाओं-जैसी है। वेदिका के कुछ पत्थरों पर ब्राह्मी लेख खुदे हैं। इनमें से कई पर राजा इन्द्राग्निमित्र की रानी कुरंगी तथा राजा ब्रह्ममित्र की रानी नागदेवा के नाम लिखे हैं, जिन्होंने इस वेदिका का निर्माण कराया। सम्भवतः इन रानियों के पति कौशाम्बी के शासक थे। उनके शासन का प्रभाव ई० पूर्व दूसरी शती में मगध के एक विस्तृत भाग पर फैला था।

बोधगया की वेदिका में कुल ६४ स्तम्भ थे। प्रत्येक स्तम्भ ६ फुट ८ इंच ऊँचा था। पत्थरों के नीचे २ फुट ३ इंच का आधार तथा ऊपर १ फुट २ इंच ऊँचे उष्णीष थे। वेदिका के उष्णीषों तथा स्तम्भों पर कमल-पुष्प के सुन्दर अलंकरण हैं। इस आधार पर वेदिका को 'पद्मवर वेदिका' कहा जा सकता है। जातक कथाओं के तथा बुद्ध के जीवन-सम्बन्धी अनेक दृश्य इन पर उत्कीर्ण हैं। गज-लक्ष्मी, मिथुन, कल्पवृक्ष, चक्र, यक्ष-यक्षी, गन्धर्व आदि के मनोरंजक चित्रण इन शिलापट्टों पर मिलते हैं।

बोधगया की कला में सपक्ष सिंह, अश्व, गज, मकर, नर-मत्स्य, ईहामृग आदि के आलेखन विशेष रोचक हैं। प्रतीत होता है कि भरहुत और साँची की कला के अनेक तत्त्वों ने बोधगया की कला को प्रभावित किया। गुप्तकाल में बोधगया के प्राचीन मन्दिर का पुनरुद्धार हुआ। उस समय वह 'बृहद्गन्धकुटी प्रासाद' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। ग्यारहवीं शती में फिर उसे नया बृहत् रूप प्रदान किया गया।

मथुरा

इस काल में कला का एक अन्य बड़ा केन्द्र मथुरा नगर बना। यहाँ वैदिक, जैन तथा बौद्ध धर्मों का विकास कई शताब्दियों तक जारी रहा। वास्तुकला तथा मूर्ति-विज्ञान की दृष्टि से मथुरा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है।

जैन तथा बौद्ध इमारतें—मथुरा में जैन तथा बौद्ध धर्म के बड़े केन्द्र स्थापित हो जाने से यह युक्तिसंगत था कि यहाँ अनेक स्तूपों तथा विहारों का निर्माण होता। मथुरा के कंकाली टीला से प्राप्त एक मूर्ति की चौकी पर खुदे हुए द्वितीय शती के एक लेख से पता चलता है कि उस समय से बहुत पूर्व यहाँ एक बड़े जैन स्तूप का निर्माण हो चुका था। लेख में उस स्तूप का नाम 'देव निर्मित बोद्ध स्तूप' दिया है। इस स्तूप की विशिष्ट वास्तु-रचना के कारण ही उसे देव-निर्मित कहा गया। वर्तमान कंकाली टीला की भूमि पर उस समय से लेकर प्राय: ११०० ई० तक जैन इमारतों और मूर्तियों का निर्माण होता रहा। बौद्ध

इमारतों की संख्या भी बड़ी थी। सम्राट् अशोक, कनिष्क तथा अन्य शक-कुषाण शासकों द्वारा मथुरा नगर तथा उसके आसपास कितने ही स्तूपों तथा विहारों का निर्माण कराया गया।

चौथी शती में चीनी यात्री फाह्यान ने मथुरा में यमुना नदी के दोनों किनारों पर बीस बौद्ध विहारों को देखा। उसने वहाँ के छह बड़े बौद्ध स्तूपों का भी उल्लेख किया। मथुरा से प्राप्त शिलालेखों से अब तक अनेक बौद्ध विहारों का पता चला है, जिनमें से अधिकांश का निर्माण शक-कुषाण-काल में हुआ। उनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं :

विहार : (१) हुविष्क विहार, (२) स्वर्णकार विहार, (३) श्री विहार, (४) चैतिय विहार, (५) चुतक विहार, (६) अपानक विहार, (७) मिहिर विहार, (८) गुहा विहार, (९) कोष्टकीय विहार, (१०) रोषिक विहार, (११) ककाटिका विहार, (१२) प्रावारिक विहार, (१३) यशा विहार तथा (१४) खण्ड विहार।

खेद है कि इन विहारों में से अब एक भी नहीं बचा। इन इमारतों के निर्माण में ईंटों और पत्थरों का प्रयोग किया गया था। इस प्रकार सांची, तक्षशिला, सारनाथ आदि स्थानों के बौद्ध विहारों-जैसे ही ये विहार रहे होंगे। मथुरा में कुषाण-काल में सबसे अधिक विहारों का निर्माण हुआ, जैसा कि तत्कालीन अभिलेखों से सिद्ध होता है।

स्तूप—मथुरा के प्राचीन स्तूप ईंट और पत्थर के बने हुए थे। उनका स्वरूप भरहुत और सांची के स्तूपों-जैसा था। कुषाण-काल में उनका अण्ड लम्बोतरा हो गया। शुंग कुषाणकालीन मथुरा की अनेक मूर्तियों पर जैन तथा बौद्ध स्तूपों की आकृतियाँ प्राप्त हुई हैं। 'रायपसेणीय सुत्त' आदि जैन ग्रन्थों तथा बौद्ध साहित्य में विवेच्यकालीन स्तूपवास्तु पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

सम्राट् अशोक द्वारा मथुरा में बनवाये गये स्तूपों में तीन का उल्लेख चीनी यात्री हुएन-सांग ने किया। इस यात्री ने मथुरा में बुद्ध भगवान् के साथियों के अवशेषों पर निर्मित स्तूपों की भी चर्चा की। मथुरा में बाद में छोटे-छोटे जिन स्तूपों की रचना की गयी, उनमें से कई के अवशेष उपलब्ध हैं।

शक-कुषाणों के आधिपत्य-काल में मथुरा और उसके आस-पास ब्रज-क्षेत्र में अनेक जैन और बौद्ध स्तूपों का निर्माण हुआ। अशोक के समय से यहाँ स्तूप-निर्माण की जो परम्परा आरम्भ हुई उसका विपुल विकास इस युग में हुआ। मथुरा और उसके आस-पास के

भूभाग से प्राचीन इमारतों के अवशेष बड़ी संख्या में मिले हैं। अनेक कला-कृतियों पर तोरण-वेदिका युक्त स्तूप प्रदर्शित मिलते हैं।

मथुरा की मूर्तिकला अपनी मौलिक उद्भावनाओं, सामंजस्य-प्रवणता तथा वास्तु की विविधता के कारण भारतीय कला में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। स्थापत्य के क्षेत्र में भी उसने इन गुणों का प्रदर्शन किया। मथुरा के स्थापत्य में मूल प्रेरणा भरहुत, सांची तथा बोधगया से ली गयी दृष्टिगोचर होती है। परन्तु वास्तु के उन तत्वों को भारतीय परम्परा के व्यापक परिवेश में जांच-परख कर मथुरा के कलाकारों ने वास्तु में सौन्दर्य की नयी विधाओं की सृष्टि की और ललित कला के इस अंग को नवीन रूप प्रदान किया। यह प्रवृत्ति हमें मथुरा में ईसा की प्रथम दो शताब्दियों में विशेष रूप से प्रस्फुटित मिलती है। प्रकृति और मानव जीवन के सौन्दर्य को परखने और उसे मनोरम मूर्तरूप देने की अपूर्व क्षमता मथुरा के कलाकारों में थी।

जहां तक मथुरा के जैन स्तूपों का सम्बन्ध है, इस काल में दो मुख्य स्तूपों का निर्माण हुआ : एक शुंग-काल में तथा दूसरा कुषाण-युग में। वर्तमान कंकाली टीला के क्षेत्र में पहले स्तूप के बाद दूसरे का निर्माण हुआ। प्राचीन मथुरा का यह प्रमुख जैन केन्द्र था। बौद्धों ने भूतेश्वर, कटरा आदि अनेक स्थानों पर अपने स्तूप और विहार बनवाये। मथुरा के कतिपय बौद्ध स्तूपों का तकनीक गंधार-क्षेत्र के स्तूपों-जैसा था।

इन इमारतों के बहुसंख्यक अवशेषों में वेदिका-स्तम्भों का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। रायपसेणीय सुत्त, ललितविस्तर, दिव्यावदान आदि ग्रन्थों में स्तूप के अन्य भागों के अतिरिक्त पत्थर वेदिका तथा उस पर बनी हुई सौन्दर्य-पुत्तलिकाओं के विवरण विस्तार से मिलते हैं। अबतक १५० से भी अधिक वेदिका-स्तम्भ मथुरा के कंकाली टीला, भूतेश्वर आदि स्थानों से प्राप्त हो चुके हैं। इनमें से कुछ पर पूजा-सम्बन्धी और कुछ पर प्राचीन कथाओं-सम्बन्धी दृश्य हैं। शेष पर ऐसे दृश्य हैं जिनमें प्राचीन आनन्दमय लोक-जीवन की झांकी मिलती है। उन पर विविध आकर्षक मुद्राओं में स्त्रियों के चित्रण हैं। सौन्दर्य के अनिन्द्य साधन के रूप में नारी का प्रदर्शन मथुरा के कलाकारों को विशेष रुचिकर था। उन्होंने उसके जीवन की अभिव्यक्ति कर अपनी कला को मण्डित किया। मथुरा के वेदिका-स्तम्भों पर कहीं तो कोई वनिता उद्यान में फूल चुनती हुई दिखायी गयी है तो कोई कन्दुक-क्रीड़ा में संलग्न है। कोई सुन्दरी झरने के नीचे स्नान का आनन्द ले रही है तो दूसरी स्नान के उपरान्त कपड़े पहन रही है, या गीले केश सुखा रही है। किसी खम्भे पर बालों के संवारने का दृश्य है तो अन्य पर कपोलों में लोध्रचूर्ण मलने का या उन पर पत्र-रचना

करने का। कहीं मधु-पान का दृश्य है तो कहीं वीणा-वंशी-वादन का या नृत्य का। मथुरा के ये वेदिका-स्तम्भ कलात्मक होने के साथ-साथ, शृंगार और माधुर्य के मंगल-घट हैं, जिनमें कलाकारों ने सुरुचिपूर्ण ढंग से प्रकृति और मानव-जगत् की सौन्दर्य-राशि भर दी है।

मथुरा के कई वेदिका-स्तम्भों पर बुद्ध या बोधिसत्व की मूर्तियाँ मिली हैं। कुछ पर हाथ जोड़े हुए या हाथ में पुष्पमाला लिए हुए पूजकों के भी चित्रण हैं। भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्मों की जातक कथाएँ अनेक स्तम्भों पर मिलती हैं। लगभग १०० ई० पूर्व के एक खम्भे पर पत्तों की एक कुटिया (पर्णशाला) दिखायी गयी है। उसके बाहर एक वृद्ध तपस्वी बैठे हैं, जिनके सामने हिरन, साँप, कौवा और चिड़िया—ये चार जीव बैठे हैं।

जातक कथाओं के अलावा महाभारत की भी कुछ कथायें मथुरा के वेदिका-स्तम्भों पर अंकित मिलती हैं। एक कथा ऋष्यशृंग की है, जिन्होंने युवावस्था तक किसी स्त्री को नहीं देखा था। उन्हें अंग (प्राचीन बिहार का एक भाग) के राजा ने वेश्याओं द्वारा प्रलोभन देकर बुलवाया। इस कथा को एक वेदिका-स्तम्भ पर बड़ी सुन्दरता से दिखाया गया है।

मथुरा से बड़ी संख्या में ऐसे वेदिका-स्तम्भ मिले हैं जिन पर विविध मनोविनोद-सम्बन्धी दृश्य उत्कीर्ण मिलते हैं। प्राचीन भारत में बाग-बगीचों में मनबहलाव के लिए अनेक उत्सव, खेल-तमाशे, राग-रंग हुआ करते थे। बहुत से उत्सव सार्वजनिक होते थे, जिनमें सभी वर्गों के लोग भाग ले सकते थे। उद्यानों में फूल चुनना, झूला झूलना, गेंद खेलना, पक्षियों के साथ मनोरंजन करना आदि कार्यक्रम होते थे। पक्षियों को लोग अपने घरों में भी पालते थे। हंस, तोता, मैना, कोयल, मोर आदि पालतू पक्षियों के प्राचीन साहित्य में बहुत उल्लेख मिलते हैं। मथुरा-कला में पक्षियों के साथ क्रीड़ा करने के अनेक दृश्य मिले हैं। कहीं पिंजड़े में बन्द पक्षी दिखाया गया है तो कहीं पूर्ण मुक्त। सुन्दरियाँ मंजरी, फूल या फल दिखाकर अथवा अनार के दानों के समान अपने दाँतों से शुकादि पक्षियों को नचा रही हैं। कहीं सुकेशियों के बालों में गुँथे हुए या स्तन-हारों के मोतियों के लोभी हंस दिखाये गये हैं। फूल चुनने और गेंद खेलने के भी कई मनोरम दृश्य मथुरा के वेदिका-स्तम्भों पर देखे जा सकते हैं। कंकाली टीला से प्राप्त वेदिका-स्तम्भों पर इस प्रकार के कलात्मक विनोदों का अंकन बहुलता से मिलता है।

मथुरा के वेदिका-स्तम्भों पर स्नान और प्रसाधन के कई दृश्य हैं। एक खम्भे पर एक स्त्री पर्वतीय झरने के नीचे स्नान का आनन्द लेती हुई दिखायी गयी है। दूसरे पर

स्नान के बाद वस्त्र पहिनने और किनारे पर भीगे बालों के निचोड़ने का दृश्य है। प्रसाधन-सम्बन्धी अनेक मूर्तियाँ मिली हैं। किसी पर गालों में चूर्ण लगाने या पत्रावली-रचना का दृश्य है तो किसी पर वेणी सँवारने या अलक्तक लगवाने का। उन प्रसाधिका स्त्रियों की भी कई मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं जो संवाहन आदि का काम करती थीं। वे हाथों में शृंगार-पेटिका तथा भृंगार (सुगन्धित पदार्थ रखने का पात्र) लिये दिखायी गयी हैं।

एक वेदिका-स्तम्भ पर ब्रज की एक युवती अपने विशेष पहनावे के साथ दिखायी गयी है। वह सिर पर एक भाण्ड रखे है। सम्भवतः यह दही बेचने वाली गोप-वधू की मूर्ति है। कुछ स्तम्भों पर हाथ में तलवार लिये हुए नटियों के भी चित्रण मिले हैं। एक खम्भे पर ईरानी वेश-भूषा में एक स्त्री दिखायी गयी है, जो हाथ में दीपक लिये हुए है। प्राचीन रनिवासों में विदेशी परिचारिकाओं के रहने के प्रमाण मिलते हैं। इनमें अंग-रक्षिका यवनियाँ (यूनान की स्त्रियाँ) भी होती थीं। मथुरा के एक खम्भे पर शस्त्र-धारिणी की एक ऐसी मूर्ति मिली है, जिसे 'सशस्त्रा यवनी' कहा जा सकता है।

मन्दिर—मथुरा में सबसे प्राचीन जिस मन्दिर का उल्लेख मिला है वह राजा शोडास के राज्य-काल में निर्मित हुआ। ऐसा एक सिरदल पर उत्कीर्ण शिलालेख से ज्ञात हुआ है। इस लेख में लिखा है कि वासुदेव-कृष्ण का चतुःशाला मन्दिर, तोरण तथा वेदिका का निर्माण वसु नामक व्यक्ति के द्वारा महाक्षत्रप शोडास के शासन-काल में सम्पन्न हुआ। यह मन्दिर उस स्थान पर बनवाया गया जहाँ भगवान् कृष्ण का जन्म माना जाता है। हो सकता है कि उसके पहले श्रीकृष्ण का कोई मन्दिर मथुरा में रहा हो, पर उसका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिला। अन्य हिन्दू देवी-देवताओं की अनेक कुषाणकालीन मूर्तियाँ ब्रज में मिली हैं। सम्भव है कि उनमें से कुछ के मन्दिरों का निर्माण इस समय या इसके कुछ पहले आरम्भ हो गया हो।

दुर्भाग्य से मथुरा में प्राचीन वास्तु का कोई ऐसा समूचा उदाहरण आज नहीं बचा, जिससे हम धार्मिक इमारतों, प्रासादों, साधारण मकानों आदि की निर्माण-शैली की प्रत्यक्ष जानकारी प्राप्त कर सकते। इमारती पत्थर एवं अन्य अवशेषों के रूप में थोड़ी-बहुत सामग्री उपलब्ध हुई है, जिसके आधार पर हम मथुरा की कुछ इमारतों की रूपरेखा जान सकते हैं। प्राचीन प्रासाद या बड़े मकान कई तलों के होते थे। नीचे के खण्ड से ऊपर जाने के लिए जीने (सोपान) होते थे। जीने के किनारों (पार्श्व) पर वेदिका-स्तम्भ लगे होते थे। मकानों में बैठक का कमरा, स्नानागार, भोजन-गृह, शयन-गृह, शृंगार-कक्ष और अन्तःपुर प्रायः अलग-अलग होते थे। यथास्थान खिड़कियाँ भी होती थीं।

मकानों में चौखट, दरवाजे, खम्भे आदि लगाये जाते थे। उन्हें लता-वृक्ष, पशु-पक्षी, कमल, मंगल-घट, कीर्तिमुख, स्वस्तिक आदि अलंकरणों तथा विविध देवी-देवताओं, यक्ष-किन्नरों आदि की प्रतिकृतियों से अलंकृत किया जाता था। ईंट की बनी हुई इमारतों की बाहरी दीवारों पर अनेक प्रकार की बेलबूटेदार ईंटें लगायी जाती थीं, जिन पर धार्मिक एवं लौकिक दृश्यों के कलात्मक चित्रण होते थे।

अध्याय ६

गुहा वास्तु

पर्वत की चट्टानों को काटकर उन्हें निवास-हेतु शैल-गृहों के रूप में परिवर्तित करने की परम्परा भारत में बहुत पुरानी है। इसका आदिम रूप प्रागैतिहासिक तथा आद्यैतिहासिक गुहाओं में देखने को मिलता है। कुछ गुहाएँ प्राकृतिक थीं तथा कुछ मानव द्वारा निर्मित। मौर्यकाल में अशोक और दशरथ के समय बनायी गयी गुफाओं का उल्लेख पिछले अध्याय में किया जा चुका है। शुंग-सातवाहन युग में देश के कई क्षेत्रों में पर्वत काट कर निर्मित (शैलकृत) गुहाओं का निर्माण हुआ। उनमें से मुख्य का विवरण नीचे दिया जाता है।

उदयगिरि-खण्डगिरि गुहाएँ

उड़ीसा में भुवनेश्वर से ५ मील उत्तर-पश्चिम खण्डगिरि तथा उदयगिरि की पहाड़ियाँ हैं। वहाँ अधिकांश शैल-गृहों का निर्माण साधुओं के निवास के लिए किया गया। खण्डगिरि की गुहाएँ छोटी हैं। उदयगिरि की गुहाएँ अपेक्षाकृत अधिक प्रशस्त हैं। पहाड़ की चट्टान को सावधानी से काटकर उसे मानव के निवास-योग्य बनाया जाता था। गुहाओं के सामने छोटे बरामदे बना दिये जाते थे, जो स्तम्भों पर आधारित रहते थे। धीरे-धीरे इस प्रकार के शैल-गृहों को दुमंजिला बनाया जाने लगा। उनके उदाहरण उड़ीसा की उक्त गुफाओं में उपलब्ध हैं।

उदयगिरि की पहाड़ी में १८ गुफाएँ तथा खण्डगिरि में १५ हैं। उदयगिरि की मुख्य गुहाएँ रानीगुंफा, मंचपुरी, गणेशगुंफा, हाथीगुंफा, तथा व्याघ्रगुंफा हैं। खण्डगिरि में नवमुनिगुंफा, देवसभा, अनन्तगुंफा आदि हैं।

हाथीगुंफा में ई० पू० दूसरी शती के मध्य का एक लम्बा ब्राह्मी लेख उत्कीर्ण है। उसमें कलिंग के जैन शासक खारवेल का जीवन-चरित तथा उसकी उपलब्धियाँ विस्तार से वर्णित हैं। उक्त गुफाओं में से अनेक का निर्माण जैन साधुओं के निवास के लिए खारवेल के समय में कराया गया। कुछ गुफाएँ उसके पहले तथा बाद में निर्मित हुईं। हाथीगुंफा-लेख के अनुसार खारवेल ने अपनी राजधानी के निर्माण में विशेष रुचि ली। उसने दृढ़ प्राकार का निर्माण नगर के चारों ओर करवाया, जिसमें गोपुर (द्वार) सभा-स्थान बनवाये गये। इस शासक ने 'विद्याधराधिवास' नामक पुराने राजप्रासाद का भी

पुनर्निर्माण करवाया। उसके द्वारा 'महाविजय प्रासाद' नामक एक नया राजमहल बनवाया गया। खारवेल के पूर्ववर्ती, मगध के नन्द-राजाओं द्वारा एक नहर बनवायी गयी थी। उस नहर की मरम्मत खारवेल ने करायी और उसका विस्तार अपनी राजधानी तक कराया। लेख में यह भी स्पष्ट लिखा है कि अपने शासन के तेरहवें वर्ष में खारवेल ने कुमारी पर्वत (उदयगिरि-खण्डगिरि का प्राचीन नाम) पर जैन साधुओं के लिए शैल-गृह बनवाये। उक्त स्थान पर आज भी विद्यमान शैल-गृहों को देखने से पता चलता है कि उनका निर्माण बड़े कलात्मक ढंग से किया गया था।

उक्त गुफाओं में रानीगुम्फा सबसे बड़ी है। उसमें निवास के लिए दो तल हैं। प्रत्येक तल में एक मध्यवर्ती कक्ष तथा आँगन (४६ फुट × २४ फुट) है। आँगन के तीन ओर अन्य कक्ष हैं। ऊपरी तल का बरामदा ६३ फुट लम्बा तथा निचले तल का ४४ फुट लम्बा है। इस गुफा में अनेक मनोरंजक दृश्य अंकित हैं। उनमें युद्ध के विविध समारोहों के अतिरिक्त प्रेम-कथाओं, नारी-अपहरण आदि के दृश्य भी हैं। दूसरी बड़ी गुफा 'गणेश-गुफा' है। उसमें आखेट के दृश्य तथा हाथी आदि की सवारी दिखायी गयी है। एक स्थान पर उदयन-वासवदत्ता की प्रसिद्ध कथा का अत्यन्त रोचक आलेखन है। दूसरे स्थान पर दुष्यन्त-शकुन्तला की कथा अंकित है। अन्य दृश्यों में प्रकृति के नाना रूपों के चित्रण, वेदिका-चौखापट्टी, शालभंजिका, कल्पवृक्ष आदि के अंकन हैं। खण्डगिरि की अनन्तगुफा में अन्तःकक्ष (२४ फुट × ७ फुट) के सामने अलंकृत बरामदा (२६ फुट × ७ फुट) है, जो ७ स्तम्भों पर आधारित है। इस गुफा की दीवारों पर भी गज-लक्ष्मी आदि के रोचक चित्र हैं।

उड़ीसा की इन गुफाओं में पूजार्थ किसी प्रकार के मन्दिरों को नहीं दिखाया गया। इस दृष्टि से यहाँ का वास्तु पश्चिमी भारत के उस शैलकृत स्थापत्य से भिन्न है जिसमें चैत्यों या स्तूपों का महत्वपूर्ण स्थान है। उड़ीसा की गुफाओं के प्राचीन परिवेश इस बात के परिचायक हैं कि जैन धर्म के प्रसार के लिए इन स्थानों में मनोरंजक कथा-वार्ताओं तथा प्रेक्षागृहों की भी व्यवस्था रहती होगी। उनके प्रति स्थानीय लोगों की विशेष रुचि रही होगी। धर्म को लोकग्राही बनाने के लिए इस प्रकार के मनोविनोदप्रद तत्वों का समावेश असंगत नहीं कहा जा सकता। मथुरा के कंकाली टीला तथा भूतेश्वर की वेदिकाओं पर यक्षियों आदि के जो उत्तान शृंगारिक रूप मिलते हैं, वे भी धर्म के प्रति उदार दृष्टिकोण के प्रेरक कहे जा सकते हैं। भरहुत, सांची, मथुरा, अमरावती आदि की कला में शृंगार को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया। धर्म को एकान्तिकता एवं नैराश्य से बचाने

तथा उसे सर्वग्राही रूप प्रदान करने के लिए शृंगार एवं लोकाचार के विविध मनोरंजक उपादानों का अवलम्बन आवश्यक समझा गया।

पश्चिम भारत की बौद्ध गुहाएँ

सम्राट् अशोक द्वारा धर्म-प्रचारार्थ जो अनेक कार्य किये गये उनमें से एक काम भारत के विभिन्न मुख्य स्थलों पर अपनी राजाज्ञाएँ लिखाना था। उसके समय में बौद्ध धर्म मध्य प्रदेश की सीमाओं को पार कर अवन्तिक्षेत्र से होकर गुजरात-काठियावाड़ पहुँचा। इस भूभाग तथा उसके समीपवर्ती प्रदेश के लिए अशोक ने गिरनार (प्राचीन गिरिनगर) तथा सोपारा (प्राचीन शूर्पारक) को चुना। आवागमन के मुख्य केन्द्र होने के कारण इन स्थानों का चुनाव युक्तिसंगत था। इन नगरों तथा समीपवर्ती क्षेत्र के समृद्ध व्यापारी-वर्ग को प्रभावित कर बौद्ध धर्म के प्रचारकों ने बड़ी सफलता प्राप्त की। धीरे-धीरे शासक वर्ग में भी बौद्ध धर्म के प्रति सम्मान बढ़ा। पश्चिमी भारत पर शासन करने वाले सातवाहन, क्षहरात तथा शक-क्षत्रप-वंशी शासकों द्वारा इस क्षेत्र में बौद्ध स्मारकों के निर्माण में प्रभूत योग दिया गया। इसकी पुष्टि उनके बहुसंख्यक अभिलेखों से हुई है। इन लेखों में शासकों द्वारा स्तूप, चैत्यगृह, विहार आदि बनवाने तथा बौद्ध भिक्षुओं को निवास, भोजन आदि की सुविधाएँ प्रदान करने के विवरण मिलते हैं। स्मारकों में सबसे उल्लेखनीय वे बहुसंख्यक गुहाएँ (लेण या 'लयण') हैं जो पहाड़ों को काटकर बनायी गयीं। उत्तर में गिरनार से लेकर दक्षिण में पूना क्षेत्र तक लगभग १,२५० छोटी-बड़ी गुहाएँ मिली हैं। इनमें से अधिकांश बौद्ध भिक्षुओं के निवास के लिए बनायी गयीं। शेष में स्तूप एवं पूजागृह मिले हैं। मौर्य-शासक अशोक तथा दशरथ के समय में बाराबर तथा नागार्जुनी पहाड़ियों में आजीविकों के लिए गुहाएँ बनवायी गयी थीं। उनके बाद उड़ीसा वाली गुहाओं का निर्माण हुआ। पूर्वी भारत की इन गुहाओं का आरम्भिक अनुकरण पश्चिम भारत की पहाड़ियों में किया गया। शीघ्र ही पश्चिमी पर्वतमाला शैलगृह-वास्तु के प्रसार का मुख्य क्षेत्र बन गयी।

पश्चिमी भारत में उक्त शैल-वास्तु के निर्माण का समय ई० पूर्व द्वितीय शती के आरम्भ से लेकर ई० सातवीं शती तक है। लगभग ई० पूर्व २०० से लेकर २०० ई० तक पश्चिमी भारत में हीनयान मत का प्राबल्य रहा। २०० ई० के बाद से लेकर प्रायः सातवीं शती के उत्तरार्ध तक महायान मत का प्रसार विशेष रूप से हुआ। पश्चिमी भारत में सबसे पुरानी गुहाएँ वे मानी जाती हैं जो काठियावाड़ में जूनागढ़, तलाजा तथा साना नामक स्थलों में बनायी गयीं। उनके पश्चात् बम्बई के पूर्वोत्तर में भोरघाट की

गुहाओं का निर्माण हुआ। इनके अन्तर्गत भाजा, कोंडने, बेडसा, कार्ले तथा उनके उत्तरी क्षेत्र जुन्नार, नासिक, पीतलखोरा एवं अजन्ता की गुहाएँ हैं। कन्हेरी की गुहाओं का पृथक् वर्ग है।

उक्त शैल-गुहों के वास्तु की कतिपय विशेषताएँ हैं, जो इस प्रकार हैं :

(१) शैलगृह के द्वार-मुख के ऊपर का चाप कालक्रमानुसार बदलता गया। इस चाप की संज्ञा 'चैत्यगवाक्ष' मिलती है। प्रारम्भ में चाप का रूप अत्यन्त साधारण था, जैसा कि बाराबर की 'लोमशऋषि' गुफा में मिलता है। उसके लगभग एक शताब्दी पश्चात् भाजा के चाप को हम कीर्तिमुख रूप में पाते हैं, जो अश्वपाद ('हार्सशू') अथवा लम्बायमान अर्द्धचन्द्र-जैसा है। यही आकृति शैल-गृह के भीतरी गजपृष्ठ ('ऐप्स') की भी मिलती है। यह 'प्रग्रथ' (बेसर) नाम से प्रसिद्ध हुआ। कोंडने के शैलगृहों में 'चैत्यगवाक्ष' के चाप में वक्रता अधिक दिखायी पड़ती है। अजन्ता की नवीं गुफा तथा कार्ले में चैत्यचाप पूर्णावस्था को प्राप्त करता है। उसका यह रूप दूसरी शती के अन्त तक बना रहता है। ई० पाँचवीं शती से चैत्यगवाक्ष का प्रवेशद्वार आधार पर सँकरा होता जाता है। एलोरा के 'विश्वकर्मा चैत्य भवन' के निर्माण-समय (७वीं शती) तक आते-आते अश्वपाद चाप का स्थान पूर्णवृत्त ले लेता है।

(२) बरामदे की बाहरी दीवार पहले लकड़ी की बनती थी, जैसा कि भाजा में उसके अवशेष मिले थे। परन्तु यह दीवार बाद में पत्थर की बनायी जाने लगी।

(३) परवर्ती शैल-गुहों में लकड़ी का प्रयोग प्रायः बन्द कर दिया गया। शैल-गृह का द्वारमुख, जो प्रारम्भ में सादा होता था, क्रमशः अधिक अलंकृत होता गया। उसमें दो कीर्ति-स्तम्भों का भी प्रयोग होने लगा। कालान्तर में वह और अधिक विकसित हुआ और उसमें सामने वेदिका से घिरे हुए आँगन का निर्माण भी होने लगा। प्रारम्भिक गुहाओं में मुखमण्डप (पोर्टिको) चैत्यशाला का अभिन्न अंग था। परन्तु क्रमशः वह एक स्वतन्त्र रूप में मिलता है। कार्ले में हम उसे मण्डप से भी अधिक चौड़ा पाते हैं। वहाँ दोनों पार्श्व-वीथियों के प्रदक्षिणा-पथ को भी १५ फुट चौड़ा बनाया गया।

(४) वेदिका का निर्माण भी क्रमशः बदलता गया। प्रारम्भिक गुहाओं के बरामदे, लघु वेदिकाओं तथा चैत्यगवाक्ष-अभिप्राय से युक्त बनाये जाते थे। धीरे-धीरे लघुवेदिका का निर्माण घटता गया। चौथी-पाँचवीं शताब्दी तक उसे हम बिलकुल समाप्त पाते हैं।

(५) प्रारम्भिक शैल-गृहों में काष्ठ का प्रयोग बाह्य सज्जा के लिए मिलता है। उदाहरण के लिए कार्ले तथा पीतलखोरा में परवर्ती शैल-गृहों में लकड़ी के स्थान पर पूर्णतया पाषाण का प्रयोग मिलता है।

(६) प्रारम्भिक मण्डपों के स्तम्भ भीतर की ओर झुके मिलते हैं, जैसा कि भाजा में देखा जा सकता है। यह काष्ठ-वास्तु के अनुकरण का सूचक है। मण्डप के प्रवेश-द्वारों के स्तम्भ भी पहले के शैल-गृहों में झुकावदार मिलते हैं। परन्तु परवर्ती काल में स्तम्भों को बिलकुल सीधा खड़ा किया जाने लगा। स्तम्भों के आकार में भी परिवर्तन लक्षित होता है। प्रारम्भ में सादे खम्भों का प्रयोग मिलता है, जिनके न तो आधार रहते हैं और न शीर्ष। धीरे-धीरे स्तम्भों के आधार-रूप में पूर्ण-घट का अलंकरण मिलने लगता है। दूसरी विशेषता शीर्ष की है। पशुओं पर सवारी करते हुए स्त्री-पुरुषों को शीर्षों पर प्रदर्शित किया जाने लगा। कार्ले तथा कन्हेरी में पूर्ण-घट तथा पशुओं पर सवारी करते हुए स्त्री-पुरुष उल्लेखनीय हैं।

(७) प्रारम्भ में चैत्यशालाओं का आन्तरिक आयाम छोटा होता था। धीरे-धीरे उसका विस्तार बढ़ता गया। यह बात भाजा तथा कार्ले में विशेष रूप से देखी जा सकती है।

(८) शैलगृहों की पार्श्व-वीथियों की चौड़ाई भी कालक्रमानुसार बढ़ती जाती है।

शैल-गृहों के निर्माण-विषयक कतिपय शब्द प्राचीन साहित्य तथा अभिलेखों में मिलते हैं। पर्वतीय गुहा को अभिलेखों में 'कुभा', 'गुहा' अथवा 'घर' कहा गया है। कोठरी को 'अपवरक' या 'गर्भ' कहते थे। शिला का कटाव 'सेलकम्म' (शैलकर्म) कहलाता था। शिल्पी को 'सेलवधकि' (शैलवर्द्धकि) तथा मुख्य शिल्पी को 'महासिला-कम्मांतिक' अथवा 'महाकम्मकारक' कहा गया है। शैल-गृहों में मूर्तियाँ उत्कीर्ण करना 'सेलरूपकम्म' (शैलरूपकर्म) कहलाता था। चैत्यशाला के निर्माण-कार्य के लिए 'कीर्ति' शब्द प्रयुक्त हुआ है। चैत्यगवाक्ष' की संज्ञा 'कीर्तिमुख' थी। इसका शाब्दिक अर्थ उस प्रवेश-द्वार से है जो कीर्ति अथवा उत्खनित शैल-गृह के लिए होता था। शैल-गृह के मुख के लिए 'घरमुख' (गृहमुख) शब्द आया है। इसके दो भाग होते थे: पहला ऊपरी खुला भाग (चैत्यगवाक्ष) तथा दूसरा निचली ठोस दीवार, जिसमें तीन दरवाजे होते थे। बीच का दरवाजा मध्यवर्ती मण्डप (नाभि) तक पहुँचने के लिए होता था। अन्य दो दरवाजे पार्श्व-वीथियों के लिए होते थे।

शैल-गृहों में प्राप्त अभिलेखों में 'लेण' (संस्कृत 'लयन') शब्द का प्रयोग बहुत मिला है। नासिक, जुन्नार, कार्ले आदि में प्राप्त अभिलेखों में दानियों द्वारा भिक्षुओं के लिए

'लेण' बनवाने के उल्लेख मिले हैं। यह शब्द मुख्य रूप से भिक्षु-विहार के एक या एक से अधिक कमरों का द्योतक है। कभी-कभी इसका प्रयोग चैत्यशाला के लिए भी हुआ है। इस प्रकार की चैत्यशालाएँ पश्चिमी भारत के शैल-गृहों में बहुत मिली हैं। उनके बीच में पत्थर का ठोस स्तूप या चैत्य होता था। इसके अतिरिक्त स्तम्भों पर आधारित मुख्य कक्ष होता था, जिसमें दोनों ओर पार्श्व-वीथी या प्रदक्षिणा-पथ रहता था। इस प्रकार के चैत्य-गृह में वैसी वेदिका आवश्यक नहीं थी, जैसी कि भरहुत, साँची आदि के स्तूपों के चारों ओर मिलती है। परन्तु वेदिका के प्रति शैल-गृह के निर्माताओं की पारम्परिक रुचि थी। सम्भवतः इसी कारण शैल-गृहों के द्वारों या बरामदों में लकड़ी या पत्थर की वेदिका के दर्शन होते हैं।

पश्चिमी भारत के शैल-गृहों की संख्या बहुत बड़ी है। उनमें सबसे अधिक (लगभग ९००) बौद्ध हैं, शेष २०० जैन धर्म तथा वैदिक धर्मों से सम्बन्धित हैं। इन गुहाओं को दो मुख्य वर्गों में विभाजित किया गया है : (१) चैत्यशाला, तथा (२) विहार। चैत्य-शालाओं की संख्या बहुत सीमित है, जबकि आवास के लिए बनाये गये विहारों की संख्या बहुत अधिक है।

हीनयान मत से सम्बद्ध मुख्य चैत्यशालाएँ भाजा, कोंडने, अजन्ता (२ शालाएँ), बेडसा, नासिक तथा कार्ले में द्वितीय-प्रथम शती ई० पूर्व में निर्मित हुईं। चैत्यशाला के मुख्य अंगों की यदि हिन्दू मन्दिर के साथ तुलना करें तो कई बातों में साम्य मिलेगा। चैत्यशाला के अन्तिम किनारे पर प्रायः गजपृष्ठाकार पूजा-स्थल मिलता है। वह मन्दिर के गर्भगृह के स्थान पर होता है। चैत्यशाला की मध्यवीथी की तुलना मन्दिर के मण्डप से की जा सकती है। दोनों ओर की पार्श्व-वीथियों तथा मन्दिर के प्रदक्षिणा-मार्ग में कोई अन्तर नहीं होता। प्रारम्भिक विहारों और चैत्यशालाओं का रूप प्रायः सादा मिलता है। उनमें प्रतिमा-शिल्प तथा अन्य अलंकरण बहुत कम दिखायी पड़ते हैं।

पश्चिमी भारत में कई बड़े विहार मिले हैं। बड़े विहार के बीच में चौकोर कक्ष होता था। उसके दो या तीन ओर चौड़ी छोटी कोठरियाँ भिक्षुओं के लिए होती थीं। एक भिक्षु को प्रायः एक कोठरी दी जाती थी। विहार के मुख्य द्वार के सामने बरामदा होता था। विहार को 'संघाराम' भी कहते थे। चीनी यात्री हुएन-सांग ने कई मंजिल वाले संघारामों का उल्लेख किया है। बड़े विहार के भूतल वाले भाग में १०० कोठरियाँ तक होती थीं। दुर्भाग्य से समतल मैदानों में निर्मित बड़े स्तूप अब नष्ट हो चुके हैं। शैल-गृहों के विहारों को देखने से बृहत् विहार के स्वरूप का अनुमान किया जा सकता है। अधिकांश कोठरियाँ ८ फुट वर्गाकार मिली हैं। इन कोठरियों का दरवाजा उनके बीच

में न होकर प्रायः दीवार के एक किनारे होता था। भाजा, नासिक, अजन्ता, कार्ले आदि स्थानों में विहार प्रायः चैत्यशालाओं से लगे हुए हैं। भाजा का एक विहार चैत्य से मिला हुआ है। इसकी तीन कोठरियों में एक-एक शय्या है तथा एक में दो शय्याएँ हैं। कोठरियों के भीतर सोने के लिए पत्थर की लम्बी चौकियाँ काटी जाती थीं।

मुख्य शैल-गृहों का संक्षिप्त वर्णन नीचे किया जाता है :

भाजा

भाजा की गणना नासिक-वर्ग की गुहाओं के अन्तर्गत है। भोरघाट में कार्ले से चार मील दक्षिण भाजा की गुहाएँ हैं।[1] यह स्थान ई० पूर्व दूसरी शती के आरम्भ में बौद्ध-वास्तु का केन्द्र बना। इस वास्तु के अन्तर्गत विहार, चैत्यगृह तथा १४ स्तूपों का समूह है।

विहार—भाजा के विहार का मुखमण्डप साढ़े सत्रह फुट लम्बा है। पूर्वी सिरा सात फुट और पश्चिमी साढ़े नौ फुट चौड़ा है। भीतर का मण्डप सोलह फुट सात इंच लम्बा है। उसके तीनों ओर भिक्षुओं के लिए कोठरियाँ बनी थीं, जिनमें से प्रत्येक में पत्थर की चौकी बनायी गयी थी। इस विहार में अंकित प्रतिमाएँ कला की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। विहार के मुखमण्डप के पूर्वी किनारे पर स्तम्भ तथा अर्धस्तम्भ हैं। उनके शीर्ष पर स्त्री-पुरुष की वृषारोही प्रतिमाएँ अंकित हैं। विहार के दो दृश्य उल्लेखनीय हैं : एक में दो परिचारिकाओं के साथ रथारोही पुरुष दिखाया गया है। दूसरे में हाथी पर सवार अनुचर सहित एक महापुरुष अंकित है। इन मूर्तियों को क्रमशः सूर्य तथा इन्द्र मानना उपयुक्त होगा। डा० अग्रवाल इन दोनों दृश्यों को सम्राट् मान्धाता द्वारा उत्तर कुरु के अभियान का सूचक मानते हैं।[2] भाजा के इस महत्वपूर्ण विहार के मण्डप का सामने का भाग काष्ठ वेदिका से मण्डित था, जिसमें नीचे प्रवेश-द्वार थे।

चैत्यशाला—यह ५५ फुट लम्बी और २६ फुट चौड़ी है। इसके दोनों ओर का प्रदक्षिणा-मार्ग सँकरा है। मण्डप में लगे हुए प्रत्येक खम्भे की ऊँचाई ११ फुट है। स्तम्भ ऊपर झुके हुए हैं। उन पर त्रिरत्न, नन्दिपद, श्रीवत्स आदि अलंकरण बने हैं। छत का गजपृष्ठ भूमि से २६ फुट की ऊँचाई पर है। उसमें झुकी हुई धन्नियाँ समानान्तर जड़ी हैं। स्तूप का निचला भाग गोल तथा ऊपर का अण्ड भाग लम्बोतरा है। स्तूप पर पहले छत्र सहित काष्ठ-हर्मिका थी। सामने लकड़ी की दुतल्ली ओट थी। नीचे का पर्दा खम्भों

१. द्र० बर्जेस, बुद्धिस्ट केव टेम्पल्स, पृष्ठ १-८।
२. अग्रवाल, वही, पृष्ठ १२१-२२।

पर आश्रित था, जिसमें तीन द्वार थे। इसी प्रकार के तीन द्वार, शाला की पिछली दीवार में थे। अगले खम्भों के बीच में भी पहले काष्ठ-वेदिका थी। चैत्य का द्वार या कीर्तिमुख भी काष्ठ से विभूषित था।

स्तूप—चैत्यशाला से कुछ दूर छोटे-बड़े १४ ठोस स्तूप हैं। इन सब में अण्ड के ऊपरी भाग पर वेदिका का अलंकरण है। कुछ स्तूपों में चौकोर खण्ड के ऊपर वेदिका-रहित हर्मिका है। सबसे बड़े स्तूप की छत्रयष्टि का दण्ड पत्थर का था, शेष स्तूपों में काष्ठ का। एक लघु स्तूप के ऊपर अलंकृत शीर्ष बना है।

कोंडाने

यह स्थान कार्ले से १० मील दूर है। यहाँ का विहार उल्लेखनीय है। उसमें वास्तुगत कई विशेषताएँ हैं।[1] बीच में खम्भों पर आधारित बड़ा मण्डप है, जो २६ फुट लम्बा और २३ फुट चौड़ा है। भीतरी मण्डप के तीनों ओर भिक्षुओं के लिए कोठरियाँ हैं। खम्भों पर गजपृष्ठाकार छत बनी है, जिसमें टेढ़ी धरनियों का पंजर है। विहार का मुखमण्डप खम्भों पर आधारित है। उसके अगले भाग के भारपट्ट में भी खम्भों की टेक दी गयी है। मुखमण्डप के एक ओर वेदिकायुक्त सुन्दर अलंकरण है। कोंडाने का यह विहार ई० पूर्व द्वितीय शती में निर्मित हीनयानी चैत्यशालाओं और विहारों में उल्लेखनीय है।

पीतलखोरा

'महामायूरी' नामक ग्रन्थ में इसका प्राचीन नाम 'पीतंगल्य' मिलता है। औरंगाबाद से चालिसगाँव की ओर जाने वाले मार्ग पर सतमाला नामक पहाड़ी है। पीतलखोरा की गुफाएँ इसी पहाड़ी पर अजन्ता से दक्षिण-पश्चिम सीधे लगभग ५० मील दूर हैं। यहाँ कुल १३ गुफाएँ हैं।[2] प्राचीन काल में जो व्यापारिक मार्ग नासिक तथा शूर्पारक से प्रतिष्ठान की ओर जाता था उस मार्ग पर यह स्थान पड़ता था। यहाँ भी शैल-गृह की रचना ई० पूर्व दूसरी शती में आरम्भ हुई। पहले यहाँ हीनयान मत का केन्द्र और फिर महायान का केन्द्र स्थापित हुआ। गुहा संख्या ३ चैत्यगृह है, जिसका विस्तार ८६ फुट × ३५ फुट है। उसका एक सिरा अर्धवृत्त या बेसर आकृति वाला है। उसमें ३७ अठपहलू खम्भे बने थे, जिनमें से अब केवल १२ बचे हैं। खम्भे ऊपर झुके हुए हैं। छत में पत्थर की धरनियाँ बनी हैं। मण्डप के बीच की छत में पहले लकड़ी की धरनियाँ

१. बर्जेस, वही, पृष्ठ ८-११
२. वही, पृष्ठ ११-१२

थी। चैत्यशाला के स्तूप का निचला घेरा ३० फुट का है। उसके ऊपर अण्ड भाग ईंटों का बनाया गया था, जो अब नष्ट हो गया है। स्तूप के भीतर अस्थि-अवशेषों से युक्त मंजूषाएँ रखी गयी थीं। शाला का प्रदक्षिणा-मार्ग ४ फुट ११ इंच चौड़ा है। इस शाला में ११ सीढ़ियों का एक सोपान भी है। उसके दोनों ओर गणक अश्वों का अलंकरण मनोरंजक है। उसके आगे-पीछे यक्ष दिखाये गये हैं।

गुहा संख्या ४ विहार थी। उसका मुखमण्डप मूर्तियों से अलंकृत था। उसके ऊपर कीर्तिमुख था। विहार में ६ चैत्य गवाक्षों की पंक्ति आज भी सुरक्षित है। यहाँ की मिथुन मूर्तियाँ दर्शनीय हैं। स्तम्भों को भी विविध अलंकरणों से सुसज्जित किया गया है। मण्डप में ७ गर्भशालाएँ हैं तथा भीतर मुख्यशाला है। मुख्य प्रवेश-द्वार की ऊँची कुर्सी पर गजारोहियों की पंक्ति बनी है। प्रवेश द्वार (५ फुट ४ इंच × ३ फुट ६ इंच) के स्तम्भों पर विविध अलंकरण उत्खचित हैं। कमलासना लक्ष्मी दोनों हाथों में सनाल कमल लिये हुए दिखायी गयी है। उन्हें दो हाथियों द्वारा अभिषिक्त किया जा रहा है। गुफा संख्या ५-८ भी विहार हैं। इनमें नवीं गुफा सबसे बड़ी है। उसके भीतर मण्डप के छज्जे का ऊपरी भाग वेदिकालंकरण से सुसज्जित है। संख्या १३ वाली गुहा चैत्यशाला है। उसका मण्डप २७ फुट १० इंच लम्बा, १५ फुट चौड़ा तथा १५ फुट ऊँचा है। मण्डप की दो स्तम्भ-पंक्तियों को स्तूप के पीछे तक दिखाया गया है। मध्य-वर्ती नाभि सात फुट चौड़ी है। पार्श्व-वीथियों की चौड़ाई दो फुट है। अगले भाग में दोनों ओर दस तथा स्तूप के पीछे चार खम्भे बनाये गये।

अजन्ता

चित्रकला तथा मूर्तिकला की दृष्टि से भारतीय शिल्प-केन्द्रों में अजन्ता का स्थान बहुत ऊँचा है। यहाँ वास्तुकला का विकास ई० पूर्व दूसरी शती से ई० सातवीं शती तक मिलता है। प्रारम्भ से लेकर प्रायः दूसरी शती के अन्त तक अजन्ता हीनयान मत का केन्द्र था। ई० चौथी शती से सातवीं शती तक यहाँ महायान मत का विकास हुआ। अजन्ता में कुल गुहाओं की संख्या २९ है। इनमें से चार चैत्यशालाएँ तथा शेष २५ विहार-गुहाएँ हैं।

चैत्यशाला—गुहा संख्या १० को अजन्ता की सबसे प्राचीन चैत्यशाला माना जाता है। यह गुहा ९५ फुट ६ इंच गहरी है। भीतरी भाग की चौड़ाई ४१ फुट ३ इंच तथा ऊँचाई ३६ फुट है। मण्डप तथा प्रदक्षिणा-मार्ग के बीच में ५९ स्तम्भों की पंक्ति है। स्तम्भों के बीच का भाग चौकोर तथा भीतर की ओर अवनत है। मण्डप के स्तूप-भाग के ऊपर

टेढ़ी धन्नियाँ हैं, जो खम्भों के शीर्षों में निकली हुई दिखायी गयी हैं। ढोलाकार छत में पहले लकड़ी की बड़ी धन्नियाँ लगी थीं, जिनकी चूलों के छिद्र अभी बने हैं। इस गुहा के बनाने वाले शिल्पियों ने इसे विविध अलंकरणों से मण्डित किया। गुहा के स्तूप का अधिष्ठान तो गोल है परन्तु उसके ऊपर का अण्ड लम्बोतरा है। यह इस बात का परिचायक है कि लगभग ई० पूर्व प्रथम शती से अर्धवृत्ताकार स्तूप का अण्ड कुछ लम्बायमान होने लगा था।

गुहा संख्या ९ भी चैत्यशाला है। इसके मुखपट्ट के मध्य में प्रवेश-द्वार के अतिरिक्त दो पार्श्व-गवाक्ष बने हैं। तीनों के ऊपरी भाग पर छज्जा निकला है। उसके ऊपर संगीतशाला है, जिसपर १२ फुट ऊँचा कीर्तिमुख है। सामने वेदिका का अलंकरण पर्याप्त रोचक है। भीतर का मण्डप वर्गाकार है, जिसमें सीधे खम्भे लगे हैं। संख्या १० तथा ९ की चैत्यशालाओं में गुप्त-काल में अनेक सुन्दर चित्र बनाये गये थे।

विहार—अजन्ता में गुहा संख्या १२, १३ तथा ८ विहार हैं। इनमें सबसे पुरानी गुहा संख्या १२ है, जो १०वीं गुहा की चैत्यशाला से सम्बन्धित थी। भिक्षुओं की संख्या में वृद्धि के कारण १३ संख्यक गुहा बाद में बनायी गयी। महायान-काल में ११ संख्यक गुहा का निर्माण हुआ।

चैत्यगुहा संख्या ९ के साथ विहार संख्या ८ का निर्माण हुआ। यह हीनयान से सम्बन्धित है। संख्या १२ का विहार वास्तु का अच्छा उदाहरण है। उसका सामने का भाग नष्ट हो गया है। अन्दर वाला मण्डप ३८ फुट वर्गाकार है। उसके दोनों ओर खम्भों की पंक्ति है, जिसके ऊपरी भाग को पुष्पलता-शोभापट्टी से अलंकृत किया गया है। मण्डप के तीनों ओर चार-चार कोठरियाँ हैं। उनमें विश्राम-चौकियों के साथ शिरोधान या तकिये भी बनाये गये थे। भिक्षुओं के इन कमरों में दरवाजों के किवाड़ लकड़ी के बने थे, जो अब नष्ट हो चुके हैं। संख्या ११ का विहार पहले भिक्षु-निवास था। बाद में उसे बड़े मण्डप का रूप दिया गया। उसका आकार १४ × १७ × ७ फुट है।

महायान-युग में उक्त प्रारम्भिक गुहाओं के अतिरिक्त आठ गुहाएँ दक्षिण-पूर्व तथा १४ दक्षिण-पश्चिम की ओर बनायी गयी हैं। उनमें से संख्या १६ और १७ विहार हैं तथा संख्या १-२ चैत्यशालाएँ हैं। इन को अत्यन्त सुन्दर चित्रों तथा पाषाण-मूर्तियों से मण्डित किया गया।

बेडसा

यह स्थान कार्ले से १० मील दक्षिण है। काष्ठ-शिल्प से किस प्रकार पाषाण-शिल्प की ओर कलाकारों का झुकाव हुआ, उसके उदाहरण बेडसा में मिलते हैं। यहाँ चैत्य-

शालाओं का सर्वलक्षण सम्पन्न रूप देखने को मिलता है। गुहाओं के मुखमंडप में भी बड़े स्तम्भ मिलते हैं, जिनके दण्ड तथा शीर्ष पर अशोककालीन स्तम्भों का प्रभाव परिलक्षित है। ये काष्ठ-शिल्प के अनुकरण पर निर्मित हुए। गुहाओं के खम्भे अठपहलू हैं। उनके निचले भाग पूर्ण कुम्भ पर आधारित हैं। स्तम्भों के शीर्ष की चौकी युगल आरोहियों से अलंकृत है। इन खम्भों के सामने कुछ अनगढ़ चट्टानें हैं। मुखमण्डप के ऊपर सम्भवतः संगीतशाला थी। भूतल की पिछली दीवार पर एक प्रवेशद्वार था। गुहा के मुखद्वार का पूरा भाग वेदिका से अलंकृत है। उसी प्रकार चैत्यमुख में भी वेदिका-अलंकरण द्रष्टव्य है। वास्तु-विधान की दृष्टि से बेडसा की मुख्यगुहा का मुखमंडप अत्यन्त उच्चकोटि का है। उसकी तुलना कार्ले के अलंकृत मुखमंडप से की जा सकती है। चैत्य-शाला के अन्दर का मण्डप ४५½ फुट लम्बा तथा २१ फुट चौड़ा है। उसका निर्माण सादा है। खम्भों पर केवल कुछ मांगलिक चिह्न बने हैं। ढोलाकार छत में लकड़ी की भारी धन्नियाँ लगी थीं, जो अब नष्टप्राय हैं।

इस चैत्यशाला के समीप ही आयताकार विहार है। उसके चौकोर मण्डप का पिछला भाग वृत्ताकार है और तीनों ओर चौकोर कोठरियाँ बनी हैं।[1]

नासिक

गोदावरी-तट पर स्थित नासिक का प्राचीन नाम 'नासिक्या' था। सुन्दर प्राकृतिक स्थिति के कारण ई० पूर्व दूसरी शती में यहाँ बौद्ध धर्म का केन्द्र स्थापित हुआ। नासिक में कुल १७ गुहाएँ हैं। उनमें से १६ विहार तथा एक चैत्यशाला है।[2]

विहार—नासिक के प्रारम्भिक विहार हीनयानी सम्प्रदाय के थे। यहाँ का प्राचीनतम विहार आकार में छोटा है। इसका भीतरी मण्डप १४ फुट वर्गाकार है, जिसके तीन ओर दो-दो चौकोर कोठरियाँ हैं। बाहरी मुखमण्डप में दो अठपहलू खम्भे लगे हैं। इस गुहा में आन्ध्रवंशी राजा कृष्ण का लेख उत्कीर्ण है।

बड़े विहारों में पहला 'नहपान विहार' कहलाता है। इसका भीतरी मण्डप ४० वर्ग फुट है। इसके तीनों ओर कुल १६ कोठरियाँ हैं। सामने मुखमण्डप में ६ खम्भे हैं। उसके दोनों सिरों पर एक-एक कोष्ठ है। मुखमण्डप के स्तम्भ कार्ले-जैसे हैं। नहपान की पुत्री दक्षमित्रा ने अपने पति उषवदात (ऋषभदत्त) के साथ इस विहार के कोष्ठों का निर्माण कराया।

१. बर्जेस, वही, पृष्ठ २२-३

२. बर्जेस, वही, पृष्ठ ३७-४२।

दूसरा मुख्य विहार गौतमीपुत्र सातकर्णि का है। उसका वास्तु-विन्यास नहपान-विहार से बहुत मिलता-जुलता है। दोनों का मण्डप तथा कोठों का आकार-प्रकार एक-जैसा है। इस विहार के खम्भे अधिक कलात्मक हैं।

तीसरा महाविहार यज्ञश्री सातकर्णि का है। इसका मण्डप ६१ फुट लम्बा है। बाहर की ओर इसका विस्तार ३७½ फुट और भीतर की ओर ४४ फुट है। आरम्भ में यह विहार कुछ छोटा था। विहार के तीन ओर कोठरियाँ बनी हैं। मण्डप के पिछले भाग में 'गर्भगृह' है, जिसके खम्भों का अलंकरण बहुत प्रभावपूर्ण है।

चैत्यशाला—इसका निर्माण ई० पूर्व प्रथम शती के मध्य भाग में हुआ। इसके भीतरी मण्डप के खम्भे सीधे हैं। मुखमण्डप दुतल्ला है और अलंकृत वास्तु का द्योतक है। इस पर अनेक ब्राह्मी लेख उत्कीर्ण हैं, जिनमें दानकर्ताओं के नाम लिखे हैं। यह 'चैत्यशाला' 'पाण्डुलेण' कहलाती है। इसके प्रवेशद्वार की परिष्कृत कला को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि इसका निर्माण कुशल कारीगरों द्वारा किया गया था। पाण्डुलेण में भी संगीतशाला थी।

जुन्नार

पूना से ४८ मील उत्तर जुन्नार की बस्ती है। उसके समीप लगभग १५० शैल-गृह हैं। उनमें १० चैत्यशालाएँ हैं और शेष विहार। इनका निर्माण-काल ई० पूर्व द्वितीय शती से ई० प्रथम शती तक है। मूर्तियों का अभाव यहाँ के वास्तु में उल्लेखनीय है। यहाँ हीनयान बौद्ध मत का एक बड़ा केन्द्र स्थापित था।[1]

चैत्यशाला—जुन्नार की चैत्यशालाओं में से ९ आयताकार हैं। उनकी छतें चपटी हैं तथा मण्डप स्तम्भविहीन हैं। एक अन्य चैत्यशाला गोल आकृति वाली है। इस प्रकार का शैल-गृह पश्चिमी भारत में अन्यत्र नहीं मिलता।

जुन्नार की गुहाओं का सादा रूप उल्लेखनीय है। केवल कुछ गुहाओं में ही श्रीलक्ष्मी, कमल, गरुड, सर्प आदि का अलंकरण दिखायी देता है। 'मानमोद' की चैत्यशाला में उत्कीर्ण गज-लक्ष्मी की प्रतिमा अत्यन्त कलात्मक है। इस गुहा के कीर्तिमुख का अलंकरण भी सुन्दर है। गुहा का भीतरी मण्डप प्रदक्षिणा-मार्ग के स्तम्भों के बीच ३० फुट लम्बा और साढ़े बारह फुट चौड़ा है। जुन्नार में भिक्षुओं की कोठरियों के प्रवेश-द्वार चैत्य-वातायन-अभिप्राय से युक्त हैं। जुन्नार से दो मील पश्चिम तुल्जा नामक लेण-समूह है।

1. बर्जेस, वही, पृष्ठ २६–२९।

उसमें ५ कोठरियों वाला एक विहार, भोजनशाला तथा एक गोल चैत्यशाला है। इस गोल चैत्यशाला के भीतरी मण्डप का व्यास २५ फुट ६ इंच है तथा वृत्ताकार छत १८ फुट ऊँची है और १२ सादे अठपहलू खम्भों पर टिकी है। खम्भों के बीच में स्तूप है। इस प्रकार की चैत्यशाला का अंकन भरहुत-स्तूप की वेदिका पर मिला है। जुन्नार के के चारों ओर तोरण-युक्त वेदिका थी। जुन्नार के 'गणेश लेण' नामक समूह में चार मण्डप चैत्यशालाएँ हैं। इनका शिल्पविधान अधिक अलंकृत है।

कार्ले

भोरघाट पहाड़ी में अनेक शैलगृह हैं। उनमें कार्ले की गुहाएँ कला की दृष्टि से विशेष महत्व की मानी जाती हैं।[1] ये गुहाएँ मलावली स्टेशन से तीन मील दक्षिण में स्थित हैं। कार्ले में एक भव्य चैत्यशाला तथा तीन विहार हैं। यह चैत्यशाला पश्चिम भारत में शैलवास्तु का सर्वोत्तम उदाहरण है। इसके मुखमण्डप पर एक लेख उत्कीर्ण है जिसमें कहा गया है कि यह चैत्यशाला जम्बूद्वीप भर में सर्वोत्तम थी। इस शाला के निम्नलिखित अंग हैं:

(१) दो ऊँचे चतुर्मुखी स्तम्भ, जिनके ऊपर सिंहशीर्ष हैं।
(२) स्तम्भों पर आश्रित मुखमण्डप, जिसमें नीचे-ऊपर दो भूमियाँ हैं।
(३) मुखमण्डप की संगीतशाला।
(४) मुखमण्डप का भव्य कीर्तिमुख।
(५) मध्यवर्ती मण्डप।
(६) दो विस्तीर्ण प्रदक्षिणा-मार्ग।
(७) वृत्ताकार गर्भगृह।
(८) गर्भगृह के मध्य का स्तूप।
(९) स्तम्भों की अवली। इनमें सात स्तम्भ स्तूप के चारों ओर हैं और १५-१५ स्तम्भों को मण्डप के दोनों ओर पंक्तिबद्ध खड़ा किया गया है।
(१०) ढोलाकार छत।
(११) छत के नीचे काष्ठ-शिल्प की विशाल धरनियाँ।
(१२) शाला के भीतर और बाहर उत्कीर्ण अनेक ब्राह्मी लेख।

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार इस प्रकार की भव्य शाला की संज्ञा 'कीर्ति' थी। प्रारम्भ में कार्ले में भी कन्हेरी की भाँति दो बड़े कीर्तिस्तम्भ बने थे। इनमें से

१. बर्जेस, वही, पृष्ठ २३–२५।

अब एक ही बचा है। मेसोपोटामिया में लगभग ३००० ई० पूर्व में इस प्रकार के विशाल स्तम्भ चन्द्र-मन्दिरों के सामने बनाये जाते थे। मिस्र के प्राचीन मन्दिरों के सामने भी ऐसे कीर्तिस्तम्भ होते थे। भारत के ऐसे स्तम्भों का उद्गम वैदिककालीन 'यूप' से हुआ। कार्ले का स्तम्भ ५० फुट ऊँचा है। उसका दण्ड १६ पहल का है। शीर्ष पर पद्मकोष-अलंकरण है। उसके ऊपर चौकी है। उसके ऊपर चार महासिंह बैठे हुए दिखाये गये हैं। इस स्तम्भ की तुलना सारनाथ के अशोक-स्तम्भ से की जा सकती है।

मुखमण्डप दो तल वाला है। उसका निचला भाग अठपहलू दो स्तम्भों पर टिका है। ऊपरी तल को चार स्तम्भ तथा दो लघु पार्श्व स्तम्भ थामे हैं। मुखमण्डप १७ फुट गहरा और ५२ फुट लम्बा है। उसकी पिछली भित्ति में महाकाय मिथुनों की मूर्तियाँ प्रदर्शित हैं। कला की दृष्टि से इन मूर्तियों को उत्कृष्ट माना गया है। मण्डप के दो पार्श्वों में दो महाकाय गजराज-मूर्तियाँ हैं, जिन्हें ऊँचे चबूतरों पर खड़ा किया गया है। उनके नीचे वेदिका अलंकरण है। मुखपट्ट के दोनों भागों को कीर्तिमुख-अलंकरण से सुसज्जित किया गया है। इस गुहा के साथ बनायी गयी कतिपय पाषाण-प्रतिमाएँ विशेष कलापूर्ण हैं। पहले मुखमण्डप पर काष्ठ-शिल्प की बनी संगीतशाला थी। इसी संगीतशाला ने परवर्ती नादमण्डप का रूप धारण किया, जिसे हम एलोरा के कैलास मन्दिर आदि में पाते हैं। मध्यकालीन इमारतों में प्राचीन संगीतशाला की परम्परा जारी रही। मुखमण्डप के ऊपरी तल पर पीछे की ओर विशाल कीर्तिमुख बना है। डा० अग्रवाल ने इसे 'सूर्यद्वार' कहा है। इससे होकर प्रकाश और वायु का भीतरी मण्डप में संचार होता था।

भीतरी मण्डप में दोनों ओर सुन्दर स्तम्भों की पंक्ति है। स्तम्भों के शीर्ष भाग अलंकृत हैं। भीतरी मण्डप चैत्य के मुखद्वार से अन्तिम छोर तक १२४ फुट लम्बा है। १० फुट चौड़े प्रदक्षिणा-मार्ग सहित उसकी चौड़ाई ४५½ फुट है।

किनारे स्तूप की चौकी के ऊपरी भाग में वेदिका अलंकरण है। स्तूप पर दण्डयुक्त छत्र है। शाला की ढोलाकार छत तल से ४५ फुट ऊँची है।

कार्ले का यह शैल-गृह पश्चिम भारत के बौद्ध वास्तु का निस्संदेह सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। इसकी दीवारों पर उत्कीर्ण अनेक ब्राह्मी लेख हैं। उनमें क्षहरात राजा नहपान, उसके जामाता उषवदात आदि के नाम अंकित हैं।

विहार—कार्ले में तीन विहार हैं, जिनका निर्माण साधारण कोटि का है। विहार संख्या २ त्रिभूमिक तथा संख्या ३ द्विभूमिक है। विहार संख्या ४ पर पारसीक देश के निवासी दानकर्ता हरफान का नाम दिया है.

कन्हेरी

बम्बई से १६ मील उत्तर, बोरीवली स्टेशन से ५ मील दूर, कन्हेरी है। इसका प्राचीन नाम कृष्णगिरि था। इसकी पर्वत-शृंखला में बौद्ध भिक्षुओं के निवास के लिए कई सौ गुहाएँ बनायी गयी थीं। ये विभिन्न आकार-प्रकार की हैं। हीनयान सम्प्रदाय के अन्तिम समय में कन्हेरी के विहारों का बनाना आरम्भ हुआ। कार्ले की गुहाओं से कन्हेरी के गुहासमूह मिलते-जुलते हैं। सातवाहन-शासकों के आधिपत्य में अधिकांश विहारों का निर्माण हुआ। उसके बाद ई० चौथी सदी में यहाँ महायान धर्म के प्राबल्य के साथ पुनः निर्माण-कार्य शुरू हुआ, जो दसवीं शती तक जारी रहा।[1]

चैत्यशाला—यहाँ का मुख्य चैत्यगृह कार्ले के ढंग का है। कन्हेरी के गुहमुख के सामने एक बड़ा आँगन है। इस प्रकार का आँगन अन्यत्र नहीं मिलता। आँगन के एक ओर अलंकृत वेदिका है। इस पर ऊपर को हाथ उठाये हुए यक्ष-प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं। डा० अग्रवाल उन्हें 'भारपुत्रक' संज्ञा देना उपयुक्त समझते हैं। वेदिका के अन्य अलंकरणों में विविध प्रकार के पशु, लताएँ आदि हैं। आँगन के दोनों छोरों पर दो बड़े खम्भे हैं, जिनकी तुलना कार्ले के कीर्तिस्तम्भ से की जा सकती है। उनके शीर्ष पर यक्ष-प्रतिमाएँ, चौकी तथा सिंह प्रदर्शित हैं। सबसे ऊपर सिंहों के मस्तक पर सम्भवतः धर्म-चक्र बना था। सामने का बरामदा दो तल का है। उससे मुखमण्डप की शोभा बढ़ गयी है। मुख-भाग पर दानदाताओं की विशाल मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। परवर्ती महायान-युग में कला की दृष्टि से मूर्तियाँ उतनी उच्चकोटि की नहीं मिलतीं।

भीतरी मण्डप ८६½ फुट लम्बा, ४० फुट चौड़ा तथा ३८ फुट ऊँचा है। मण्डप के भीतर ३४ खम्भे हैं। उनके शीर्षों पर मूर्तियाँ बनी हैं। ढोलाकार छत में अनेक चूलें कटी हैं, जिनसे पहले भारी धन्नियाँ अटकायी गयी थीं। गर्भगृह में १६ फुट व्यास वाला गोल स्तूप है।

१. दे० बर्जेस, वही, पृष्ठ ६०–७०।

अध्याय ७

गांधार तथा वेंगी वास्तु

गान्धार-वास्तु

भारत के उत्तर-पश्चिम में प्रसिद्ध गंधार महाजनपद था। उसके बीच में बहने वाली सिन्धु नदी जनपद को पूर्वी तथा पश्चिमी दो भागों में बाँटती थी। पूर्वी क्षेत्र की राजधानी तक्षशिला तथा पश्चिमी भाग की राजधानी पुष्कलावती थी। पश्चिम और उत्तर में काबुल और स्वात नदियों तक गंधार का विस्तार था। तक्षशिला और पुष्कलावती बड़े व्यापारिक मार्ग पर स्थित थे। इन नगरों के अतिरिक्त नगरहार, स्वात, कापिशी आदि नगर गंधार के सांस्कृतिक क्षेत्र के अन्तर्गत थे। इस क्षेत्र में मौर्यकाल से लेकर छठी शती तक स्थापत्य और मूर्तिकला का विकास हुआ। गंधार क्षेत्र के विभिन्न स्थानों से कला के बहुसंख्यक अवशेष मिले हैं। इस जनपद के प्राचीन नगरों की निर्माण-व्यवस्था भारत के अन्य प्राचीन नगरों-जैसी थी। तक्षशिला में मौर्यकालीन कई स्तूपों के अवशेष मिले हैं। वहाँ के सिरसुख नामक स्थान में कुणाल-स्तूप है। अनुश्रुति है कि अशोक ने अपने पुत्र कुणाल की स्मृति में उसे बनवाया। यह त्रिमेधि आकार का स्तूप है, उसका अधिष्ठान १०५ फुट लम्बा तथा ६३ फुट ८ इंच चौड़ा है। स्तूप में यूनानी कोरिंथ शैली के स्तम्भ प्रयोग में लाये गये।

तक्षशिला क्षेत्र में मोहड़ा-मुरादू तथा जौलियाँ के वास्तु-अवशेष आज तक सुरक्षित हैं। मोहड़ा मोरादू के स्तूपों पर पच्चीकारी के सुन्दर अलंकरण हैं। वहाँ कुषाणकालीन विहार के अवशेष भी मिले हैं। जौलियाँ में भी कुषाणकालीन स्तूप तथा विहार प्राप्त हुए हैं। जौलियाँ के वास्तु पर भी पच्चीकारी काम आकर्षक है। पिप्पल नामक एक अन्य स्थान पर दो विहार तथा एक स्तूप हैं। उन पर यूनान की आयोनी शैली का प्रभाव द्रष्टव्य है।

स्थापत्य की दृष्टि से तक्षशिला में सबसे महत्वपूर्ण अवशेष 'धर्मराजिक' स्तूप के हैं। उसे अब 'चीर स्तूप' कहते हैं। ऊँची मेधि पर बना हुआ यह स्तूप गोलाकार है। उसमें चार दिशाओं में चार सोपान बने हैं। इसके निर्माण में पत्थर का उपयोग किया गया।

निचले अधिष्ठान से लेकर स्तूप के ऊपरी भाग तक स्तूप को विविध अलंकरणों से सजाया गया था। दीवार के बाहरी भाग पर बहुसंख्यक आले थे, जिनमें बोधिसत्वों की प्रतिमाएँ रखी थीं। स्तूप के चारों ओर प्रदक्षिणा-पथ था। स्तूप के पूर्व की ओर सिंहशीर्ष-युक्त पाषाण-स्तम्भ का निचला भाग मिला है। यह स्तम्भ मूल रूप से सम्राट् अशोक के समय में बनाया गया था। कुषाण-शासक कनिष्क के समय में उसे विशाल आकार प्राप्त हुआ। इसका अन्तिम कायाकल्प ई० पाँचवीं शती में हुआ।

धर्मराजिक स्तूप के चारों ओर अनेक लघु स्तूप बने थे। उनके नष्ट होने पर उनके स्थान पर छोटे बौद्ध मन्दिरों का निर्माण हुआ। ये मन्दिर महास्तूप की ओर अभिमुख थे। उनका निर्माण तीसरी शती से लेकर पाँचवीं शती तक हुआ।

विहार—धर्मराजिक स्तूप के समीप ही एक बड़ा बौद्ध विहार था। उसके जो अवशेष मिले हैं उन्हें देखने से ज्ञात होता है कि बीच में चौड़े प्रांगण के चारों ओर कोठरियाँ बनी हुई थीं। साथ में भोजन-गृह भी था।

चीनी यात्रियों ने गंधार-क्षेत्र के वास्तु-स्मारकों का विवरण लिखा है। हुएन-सांग के समय में वहाँ गोल स्तूप तथा चौकोर विहार विद्यमान थे।

हारीती का एक बड़ा मन्दिर 'चारसद्दा' (प्राचीन पुष्कलावती) में मिला है।

सम्पूर्ण गंधार क्षेत्र से प्राप्त पाषाण-प्रतिमाओं की संख्या बहुत बड़ी है। उनके निर्माण में यूनानी कला का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित है। अनेक कृतियों पर ईरानी तत्त्व भी द्रष्टव्य हैं। इस विस्तृत क्षेत्र में कई शताब्दियों तक बहुसंख्यक प्रतिमाएँ गढ़ी गयीं। उनका विषय-वस्तु मुख्यतया भारतीय है और बाह्य तकनीकी वेश यूनानी है। सिलेटी पत्थर की बनी हुई इन बहुसंख्यक मूर्तियों के अतिरिक्त गंधार क्षेत्र में धातु तथा मिट्टी की भी मूर्तियाँ निर्मित हुईं।

वेंगी क्षेत्र

सातवाहनों के शासनकाल में वैदिक धर्म के साथ-साथ बौद्ध और जैन धर्मों का भी उत्थान हुआ। पश्चिमी भारत के विस्तृत क्षेत्र में सातवाहनों के राज्यकाल में कला का जो बहुमुखी उन्मेष हुआ उससे इस बात की पुष्टि होती है। सातवाहनों का आधिपत्य पश्चिमी भारत के एक बड़े भूभाग के अतिरिक्त आंध्र प्रदेश के अधिकांश क्षेत्र पर था। गोदावरी और कृष्णा नदियों के बीच की उर्वरा भूमि पर वैदिक धर्म के साथ बौद्ध धर्म की भी उन्नति हुई। सातवाहन-शासक तथा उनके पश्चात् इक्ष्वाकु वंश के राजाओं ने इस क्षेत्र पर दीर्घ काल तक शासन किया। इन दोनों वंशों के अधिकांश नरेश वैदिक

मतावलम्बी थे। परन्तु बौद्ध और जैन धर्मों के प्रति उनमें आदर की भावना थी। उनके व्यापक दृष्टिकोण ने धार्मिक वास्तु तथा मूर्तिकला के विकास में बड़ा योग दिया। आन्ध्र क्षेत्र की प्राचीन राजधानी धान्यकटक थी, जो अमरावती के नाम से प्रसिद्ध है। बौद्ध भिक्षु मध्यप्रदेश के रायपुर जिले के श्रीपुर (सिरपुर) नामक प्राचीन नगर से होकर सातवाहनों की राजधानी धान्यकटक तक लम्बी यात्राएँ करते थे।[1] वर्तमान अमरावती में बौद्ध स्तूपों का निर्माण ई० पूर्व २०० के लगभग आरम्भ हुआ। वहाँ तथा वेंगी क्षेत्र के अल्लूरु, नागार्जुनीकोंडा, पेड्डुवेगी, घंटशाल आदि स्थानों में उस समय से लेकर ई० तीसरी शती के अन्त तक अनेक बौद्ध-स्तूपों और विहारों का निर्माण हुआ। इस क्षेत्र में बौद्ध धर्म के कई सम्प्रदायों द्वारा अपने केन्द्र बनाये गये। इन सम्प्रदायों के नाम प्राचीन अभिलेखों में मिलते हैं।

गुंटपल्ले

गुंटपल्ले नामक स्थान पर, जो दक्षिण कोसल से आन्ध्र को जाने वाले मार्ग पर स्थित था, बौद्ध स्तूपों का निर्माण ई० पूर्व तीसरी शती के अन्त में आरम्भ हुआ। ये स्मारक शैल-गृहों के रूप में हैं। इनके अन्तर्गत दो विहार, एक दुर्लभ प्रकार का गोल विहार तथा कई एकाश्मक स्तूप हैं। उनका निर्माण दक्षिण-पूर्व भारत की विशेष शैली का द्योतक है। गुंटपल्ले में हीनयान मत का गोलाकार विहार ई० पूर्व २०० के निकट बना। उसके लगभग ३५० वर्ष बाद महायान मत के स्तूप का निर्माण वहाँ पर हुआ। इस दूसरे स्तूप में प्रतीकों का स्थान बुद्ध-प्रतिमा ने ग्रहण कर लिया।

उक्त दोनों शैल-गृहों में से छोटा विहार अब अधिक सुरक्षित दशा में है। विहार से संलग्न मुखमण्डप है। पहाड़ी में काटी हुई कई कोठरियाँ भी विद्यमान हैं। ये आगे-पीछे बनी हैं और आकार में भी छोटी-बड़ी हैं। भीतरी मण्डप साधारण है। स्थापत्य के अन्य अंग भी सादे हैं। इस आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है इन शैल-गृहों का निर्माण सम्भवतः पश्चिमी शैल-गृहों से कुछ पहले सम्पन्न हुआ होगा। गुंटपल्ले की हीनयानी चैत्यशाला बराबर की लोमश ऋषि और सुदामा गुफा से बहुत मिलती है। भीतरी मण्डप के बीच में गोल स्तूप बना है, जिसके चारों ओर सँकरा प्रदक्षिणा-पथ है। ऊपर वर्त्तुलित छत है। इस शाला का व्यास १८ फुट है तथा उसकी ऊँचाई १४½ फुट है। उसकी छत गोल छत्राकार थी। इस शैल-गृह के निर्माण में पर्णशाला के 'दारुकर्म' का प्रभाव परिलक्षित होता है।

गुंटपल्ले में दूसरी-तीसरी शती में भी निर्माण-कार्य होता रहा। इस काल में निर्मित वृत्ताकार चैत्यशाला तथा अर्धगोलाकार स्तूप प्राप्त हुए हैं।

विशाखापत्तनम् के समीप संघाराम नामक स्थान पर भी बौद्धों ने अपना केन्द्र बनाया। वहाँ एकाश्मक स्तूप, भिक्षुओं की कोठरियाँ तथा वृत्तायत चैत्यशालाएँ मिली हैं। स्तूपों का आधार बड़ा है। एक स्तूप का व्यास ६५ फुट है। यहाँ परवर्ती काल में अलंकृत पाषाणों तथा पक्की ईंटों के स्तूप बने। इस स्थान पर निर्माण-कार्य पल्लवों के समय तक होता रहा।

गोली

गुंटूर जिला में कृष्णा नदी की शाखा कोलाक नदी के तट पर गोली नामक स्थान है, जो नागार्जुनीकोंडा से १८ मील दक्षिण है। यहाँ एक स्तूप के अवशेष मिले हैं, जिस पर सफेद पाषाण का प्रयोग शिलापट्टों के रूप में किया गया। गोली की अनेक कलापूर्ण मूर्तियाँ उल्लेखनीय हैं। एक शिलापट्ट पर स्तूप का अंकन है। सम्भवतः यह गोली के प्राचीन स्तूप का परिचायक है। इसका निर्माण तीन मेधियों के अधिष्ठान पर दिखाया गया है। स्तूप के निचले भाग में सज्जापट्टी है, जो कलापूर्ण शिलापट्टों से निर्मित है। स्तूप का अण्ड लम्बोतरा है। उस पर वेदिका सहित हर्मिका के अतिरिक्त उससे निकली हुई दो ध्वजाओं का अंकन अत्यन्त मनोहर है। गोली में इस प्रकार के स्तूप का निर्माण ई० दूसरी शती में हुआ। उसमें महास्तूप के कई लक्षण विद्यमान रहे होंगे।

भट्टिप्रोलु

यहाँ १२२ फुट ऊँचा महास्तूप बनाया गया जिसके नीचे का व्यास १४८ फुट था। इस स्तूप का निर्माण ई० पूर्व तीसरी शती में हुआ। उसमें बड़ी आकार वाली ईंटें लगायी गयीं। इस स्तूप का अण्ड भाग साँची स्तूप-जैसा था। भट्टिप्रोलु से एक महत्वपूर्ण ब्राह्मी लेख सहित धातु-मंजूषा मिली थी। यहाँ पर बौद्ध विहार भी थे, जो अब नष्ट हो गये हैं।[1]

घण्टशाल

इसका प्राचीन नाम 'कण्टकशैल' था। यहाँ के स्तूप का आकार-प्रकार भट्टिप्रोलु-जैसा था। स्तूप का व्यास १२२ फुट तथा ऊँचाई १११ फुट थी। यहाँ एक गर्भ-स्तम्भ भी निर्मित था, जिसके चारों ओर २२ फुट व्यास का एक अन्य स्तम्भ था। बाहरी स्तम्भ के चारों ओर ५६ फुट व्यास वाली गोल दीवार बनी थी। स्तूप को कलापूर्ण श्वेत पाषाणों से अलंकृत किया गया था।[2]

१. विस्तार के लिए दे० री, साउथ इंडियन बुद्धिस्ट ऐंटिक्विटीज, पृ० ७-१०।
२. वही, पृ० ३२-४३।

जगय्यपेट्ट

अमरावती से ३० मील उत्तर-पश्चिम स्थित जगय्यपेट्ट में अनेक स्तूपों तथा विहारों का निर्माण किया गया। उनमें ईंटों तथा सफेद पत्थर का प्रयोग है। इस स्थान पर प्रधानतः इक्ष्वाकु राजाओं ने निर्माण-कार्य कराया। उनके पश्चात् पल्लवों ने उसे आगे बढ़ाया। यहाँ का मुख्य स्तूप ३१½ फुट व्यास का था। उसके चारों ओर १०½ फुट चौड़ा प्रदक्षिणा-पथ एवं ३ फुट ६ इंच चौड़ा एक लघु मार्ग था। स्तूप के चारों ओर महा-वेदिका का निर्माण किया गया। स्तूप के बहिर्भाग में निकले अधिष्ठान को उत्कीर्ण शिला-पट्टों की सज्जापट्टी से सुशोभित किया गया। ऊपर के भाग पर पच्चकारी का काम था। बीच में पाँच आर्यक स्तम्भयुक्त चार मंच तथा हर्मिका थी। आर्यक स्तम्भों तक पहुँचने के लिए सोपान-मार्ग थे। मध्य में लघुवेदिका सहित दूसरा प्रदक्षिणा-पथ था। स्तूप के बहिर्भाग को अत्यन्त कलापूर्ण ढंग से मण्डित किया गया।

अमरावती

गुण्टूर से १८ मील दूर कृष्णा नदी के दाहिने तट पर अमरावती का प्रख्यात बौद्ध स्तूप था। वहाँ से आधा मील पश्चिम 'धरणीकोट' नामक स्थान है। यहीं सातवाहनों की राजधानी धान्यकटक थी।

अमरावती के महास्तूप का पता १७९७ ई० में कर्नल मैकेन्ज़ी ने लगाया। इसके पूर्व स्तूप के कितने ही कलापूर्ण शिलापट्ट अमरावती से गायब हो चुके थे। मैकेन्ज़ी ने स्तूप के वास्तु तथा मूर्तियों का गम्भीर अध्ययन किया तथा उसके श्रेष्ठ चित्र बनाये। १८४० ई० में वाल्टर इलियट ने स्तूप के एक भाग का उत्खनन कराया, जिससे अनेक मूर्तियाँ प्राप्त हुईं। अमरावती की कुछ मूर्तियाँ ब्रिटिश म्यूज़ियम में तथा अधिकांश अब मद्रास संग्रहालय में है। इन कला-कृतियों तथा अमरावती से प्राप्त बहुसंख्यक शिलालेखों के आधार पर वहाँ के स्तूप का इतिहास प्रस्तुत हो सका है। अमरावती में एक सघटित बौद्ध संघ था, जिसके सदस्यों की संख्या बहुत बड़ी थी। यहाँ के बौद्ध-संघ का नाम 'चैत्यक' था। इस संघ ने अमरावती के महाचैत्य के निर्माण तथा रख-रखाव का लम्बे समय तक प्रबन्ध किया।

अमरावती के स्तूप का मुख्य अंग स्तूप की भूतलीय महावेदिका थी। वेदिका-स्तम्भों को ईंट की चौकियों पर स्थापित किया गया। ऊपर उष्णीष के पत्थर थे। दो-दो स्तम्भों के बीच तीन-तीन सूचियाँ (आड़े पत्थर) थीं। महावेदिका का व्यास १९३ फुट था, जो भरहुत के व्यास से लगभग दुगुना होता है। वेदिका का सम्पूर्ण घेरा लगभग ६००

फुट था। वेदिका-स्तम्भ में से प्रत्येक की ऊँचाई नौ फुट तथा चौड़ाई दो फुट दस इंच है। स्तम्भों के ऊपर उष्णीषपट्ट की ऊँचाई २ फुट ८ इंच है। उष्णीष की मुँडेर गोल है। वेदिका की चारों दिशाओं में २६ फुट चौड़ा एक-एक तोरण-द्वार था। यहाँ के तोरणों में बँडेरियाँ नहीं थीं। पूरी महावेदिका में १३६ खम्भे तथा ३४८ सूची के पत्थर थे। पूरी उष्णीष की लम्बाई ८०० फुट थी।

इस महावेदिका पर जातक-दृश्यों तथा बुद्ध के जीवन की घटनाओं को कलात्मक ढंग से चित्रित किया गया है। धर्म-यात्रा, पूजा आदि के भी अनेक दृश्य हैं। सूचियाँ कमल-पुष्पों से अलंकृत हैं। द्वारस्थ वेदिका पर चार सिंहों की मूर्तियाँ बैठी हुई दिखायी गयी हैं।

स्तूप का भीतरी प्रदक्षिणा-पथ ५ फुट ऊँचा था। एक छोटे सोपान-मार्ग से वहाँ तक पहुँचते थे। तोरण-द्वार के पृष्ठ भाग में स्तूप से निकलते हुए आयक मंच थे। प्रत्येक मंच की लम्बाई ३२ फुट और चौड़ाई ६ फुट थी। स्तूप के अधिष्ठान से ये २० फुट की ऊँचाई पर बनाये गये थे। आयक मंच पर लगे हुए शिलापट्ट पर बुद्ध एवं नागराज का प्रदर्शन बड़े प्रभावोत्पादक ढंग से किया गया है। प्रत्येक आयक के सामने किनारे पर ५ अठपहलू खम्भे थे। उनमें से प्रत्येक की ऊँचाई १० फुट से १५ फुट थी। स्तम्भों पर बोधिवृक्ष, धर्मचक्र, स्तूप आदि के अलंकरण हैं। अनेक शिलापट्टों पर महास्तूप तथा उसके विभिन्न अंगों की आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। इनके आधार पर अमरावती के महास्तूप के अंगोपांगों का अच्छा ज्ञान हो जाता है। अमरावती का महास्तूप भारतीय वास्तु की एक उज्ज्वल कृति है। वास्तु के विविध तत्त्वों का मनोहारी समन्वय इस महान् कृति में दर्शनीय है।

नागार्जुनीकोंडा

वेंगी क्षेत्र में गुंटूर जिला में कृष्णा नदी के दायें तट पर स्थित नागार्जुनीकोंडा का भव्य स्तूप है। अमरावती से इसकी सीधी दूरी केवल ६० मील है। इस स्थान के एक ओर कृष्णा नदी तथा शेष तीन ओर नागार्जुन की पहाड़ियाँ हैं। इक्ष्वाकु शासकों ने इसकी प्राकृतिक स्थिति को देखकर इसे राजधानी के लिए उपयुक्त समझा। इन राजाओं के लेखों में नागार्जुनीकोंडा का नाम 'विजयपुरी' दिया है। व्यापारिक दृष्टि से इस स्थान का विशेष महत्त्व था।

नागार्जुनीकोंडा का पता १९२६ ई० में लगा। १९२७ तथा १९५९ के बीच कई बार यहाँ उत्खनन कराये गये। इन उत्खननों से अनेक बहुमूल्य अवशेष प्राप्त हुए।

यहाँ अनेक ब्राह्मी अभिलेख प्राप्त हुए हैं, जिनके आधार पर नागार्जुनीकोंडा के वास्तु के सम्बन्ध में अनेक बातें ज्ञात हुई हैं। इन लेखों से पता चला है कि इक्ष्वाकु राजाओं की रानियाँ बौद्ध धर्म के प्रति विशेष श्रद्धालु थीं। उन्होंने बौद्ध स्मारकों के निर्माण में बड़ा योग दिया। लेखों से यह भी ज्ञात हुआ है कि यहाँ दो बड़े विहार थे—एक का नाम 'कुलविहार' और दूसरे का 'सीहल विहार' था।

नागार्जुनीकोंडा का महास्तूप गोलाकार था। उसके भीतरी भाग को मिट्टी, ईंट के टुकड़ों आदि से भरा गया। फिर ईंटों से उसे आवेष्टित कर दिया गया। जो ईंटें लगायी गयीं उनका आकार २० इंच × १० इंच × १० इंच था। स्तूप के ऊपरी भाग को बाद में उत्कीर्ण शिलापट्टों से अलंकृत किया गया। महास्तूप का व्यास १०६ फुट तथा ऊँचाई लगभग ८० फुट थी। भूतल पर १३ फुट चौड़ा प्रदक्षिणा-पथ था। इस पथ के चारों ओर वेदिका थी। अमरावती की तरह यहाँ के वेदिका-स्तम्भों का आलम्बन भी ईंटों की चौकियाँ थीं। आयक-मंच २२ फुट लम्बा तथा ५ फुट चौड़ा था। इसी के समतल ७ फुट चौड़ा मध्यवर्ती प्रदक्षिणा-पथ था। उसे लघुवेदिका से वेष्टित किया गया था। अण्ड के ऊपर हर्मिका थी, जिसके बीच में भारी शिला-यष्टि लगी थी। उसके ऊपर तीन छत्र थे। उत्खनन से पता चला है कि स्तूप के भीतर तल-विन्यास में ४० बड़े कोष्ठक थे। एक कोष्ठक से धातु-मंजूषा प्राप्त हुई थी। स्तूपों में धातु-निधान की यह प्रणाली नागार्जुनीकोंडा के अन्य स्तूपों में भी मिली है।

महास्तूप के अतिरिक्त यहाँ कई छोटे स्तूप भी मिले हैं। सबसे छोटे स्तूप का व्यास केवल २० फुट है। इन स्तूपों को भी उत्कीर्ण सज्जा-पट्टियों से मण्डित किया गया है। कई लघु-स्तूप बिलकुल सादे मिले हैं।

अन्य स्थापत्य—नागार्जुनीकोंडा के उत्खनन से यहाँ के प्राचीन नगर-विन्यास का भी पता चला है। प्राचीन नगर को प्राकार तथा परिखा से सुरक्षित किया गया था। प्राकार की ऊँचाई १६ फुट थी। पहले यह मिट्टी का बना था। बाद में उसे पक्की ईंटों का बनाया गया। उसकी चौड़ाई ८ फुट से १४ फुट तक है। नगर के चारों ओर बनायी गयी परिखा १२ फुट गहरी थी। उसकी चौड़ाई विभिन्न स्थानों में ७४ से १३२ फुट तक मिली है। राजप्रासाद के तोरण-द्वार, सैनिकों के लिए कोठरियाँ तथा एक अलंकृत पुष्करिणी भी मिली है।

नागार्जुनीकोंडा में हाल के उत्खनन से प्राप्त मल्लशाला विशेष उल्लेखनीय है। उसका निर्माण राजमहल के उत्तर की ओर किया गया था। इस मल्लशाला के पश्चिमी

ओर एक मण्डप था, जहाँ राजवर्ग के लोग बैठकर मल्लों की कुश्तियाँ देखते रहे होंगे। इस मल्लशाला की लम्बाई ३०६ फुट तथा चौड़ाई २९६ फुट थी। उसमें उतरने के लिए चारों ओर सोपान थे, जिनपर बैठने के लिए दो फुट चौड़ी सीढ़ियाँ थीं। पूरा अखाड़ा पक्की ईंटों का बना था। अखाड़े के चारों ओर चौड़ा स्थान था, जहाँ अन्य दर्शक बैठते थे।[1]

१. वेंगी क्षेत्रीय वास्तु के विस्तृत विवेचन के लिए दे० अग्रवाल वही, पृ० २७७-२०३।

अध्याय ८

गुप्तकाल

ईसवी दूसरी शती की समाप्ति से पूर्व ही उत्तर भारत में कुषाण-साम्राज्य का अन्त हो गया। उसके कुछ समय बाद दक्षिण भारत में सातवाहन-साम्राज्य की समाप्ति हुई। तीसरी शती के मध्य में वाकाटकों की शक्ति का उदय हुआ। धीरे-धीरे वाकाटकों ने दक्षिण कोसल तथा महाराष्ट्र के उत्तरी भाग पर अधिकार स्थापित कर लिया। दक्षिण में इक्ष्वाकुओं के बाद पल्लवों ने अपनी शक्ति का विकास किया।

गुप्तवंश—तीसरी शताब्दी के अन्त में प्रयाग तथा उसके आसपास एक नयी शक्ति का उदय हुआ। यह गुप्त-वंश था। इसका यह नामकरण इस वंश के प्रथम राजा श्रीगुप्त के नाम पर हुआ। इस वंश का तीसरा राजा चन्द्रगुप्त (३१९-३३५ ई०) हुआ। उसने वैशाली के लिच्छवि वंश की पुत्री कुमारदेवी से विवाह किया। लिच्छवि लोगों की सहायता से चन्द्रगुप्त ने पाटलिपुत्र पर विजय प्राप्त की और 'महाराजाधिराज' उपाधि धारण की। गुप्त-वंश में समुद्रगुप्त (३३५-३७५ ई०) चन्द्रगुप्त द्वितीय 'विक्रमादित्य' (३८०-४१३ ई०) तथा स्कन्दगुप्त (४५५-४६७ ई०) बड़े प्रतापी शासक हुए। समुद्रगुप्त ने उत्तर तथा दक्षिण भारत के अनेक राज्यों को जीत कर अपनी विजय-पताका फहरायी और दिग्विजय के अनन्तर अश्वमेध किया। उसके यशस्वी पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने सौराष्ट्र, गुजरात तथा उज्जयिनी के शक राज्य को जड़ से नष्ट कर दिया। चन्द्रगुप्त द्वितीय तथा उसके पुत्र कुमारगुप्त प्रथम के शासनकाल में वास्तु और मूर्ति-कला का विकास हुआ। लगभग ४५० ई० में मध्य एशिया के हूण लोगों ने गुप्त-साम्राज्य पर आक्रमण किया और कुछ काल तक उन्होंने ग्वालियर के आसपास अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। कुमारगुप्त प्रथम के पुत्र स्कन्दगुप्त ने हूणों से कड़ा लोहा लिया और उन्हें परास्त किया। परन्तु हूणों के दुर्दान्त आक्रमण के फलस्वरूप गुप्त साम्राज्य की जड़ें हिल गयीं। स्कन्दगुप्त के बाद बुधगुप्त (४७५-४९५ ई०) और भानुगुप्त (४९५-५१० ई०) नामक शासक हुए। लगभग ५२० ई० में गुप्तवंश की प्रधान शाखा का अन्त हो गया। छठी शती के मध्य में वाकाटक-सत्ता भी समाप्त हो गयी।

समुद्रगुप्त के समय से वाकाटक नरेश गुप्त-साम्राज्य के साथ अपने अच्छे सम्बन्ध बनाये रहे। कर्णाटक में ३०० ई० के लगभग मयूरशर्मा नामक व्यक्ति ने कदम्ब राज्य की स्थापना की। यह राज्य गुप्त-साम्राज्य के साथ-साथ उन्नति करता रहा।

गुप्त-शासनकाल भारतीय इतिहास में 'स्वर्णयुग' के नाम से प्रसिद्ध है। इस युग में धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक, कलात्मक एवं साहित्यिक क्षेत्रों में अभूतपूर्व उन्नति हुई।

भारत के तत्कालीन राजवंशों में गुप्त, वाकाटक, कदम्ब तथा पल्लव-शासकों ने देश के शिल्प एवं वाणिज्य की उन्नति में बड़ा योग दिया। इस काल में देश धन-धान्य से सम्पन्न हो गया। व्यावसायिक नगरों की संख्या में काफी वृद्धि हुई। अब भड़ौंच, पैठण, विदिशा, उज्जयिनी, तक्षशिला, मथुरा, अहिच्छत्रा, कौशाम्बी, श्रावस्ती, अयोध्या, काशी, वैशाली, पाटलिपुत्र आदि कितने ही बड़े नगर दिखायी पड़ने लगे। ये नगर बड़े व्यापारिक मार्गों पर स्थित थे। देश में अनेक प्रकार के शिल्प उन्नति पर थे। वस्त्रोद्योग, जवाहरातों का काम, लोहा, तांबा, लकड़ी तथा हाथीदांत के उद्योग बहुत बढ़े-चढ़े थे।

इस काल में राजनीतिक स्थिरता तथा आर्थिक समृद्धि ने साहित्य, वास्तु, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीत, नाट्य आदि के उन्नयन का मार्ग प्रशस्त कर दिया। गुप्त सम्राटों तथा समकालीन अन्य राज-वंशों ने ललित कलाओं को अनेक ढंगों से प्रोत्साहित किया। ईरान, लघु एशिया तथा यूनान के साथ भारत के घनिष्ठ सांस्कृतिक एवं व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो गये। इन देशों से भारत के साथ आवागमन बहुत बढ़ गया। तत्कालीन भारतीय वास्तु और मूर्तिकला का मुख्य प्रेरणास्रोत प्राचीन भारतीय परम्परा थी। परन्तु उसमें ईरान, पश्चिमी एशिया तथा यूनान के अनेक तत्त्व भी ग्रहण कर लिये गये। इन तत्त्वों को भारतीय विचारधारा के साथ समन्वित कर उन्हें साहित्य तथा मूर्तिकला के माध्यमों द्वारा नवीन रूप प्रदान किये गये।

गुप्तकालीन वास्तु में ईंट तथा पत्थर का प्रयोग पिछले युग की अपेक्षा अधिक होने लगा। वास्तु के स्थायी माध्यम के लिए दारुकर्म अधिक उपयुक्त न था।

गुहा-स्थापत्य

गुप्तकालीन गुहा-वास्तु के कतिपय अच्छे उदाहरण विदिशा के पास उदयगिरि में उपलब्ध हैं। वहाँ की अधिकांश गुहाएँ भागवत धर्म से सम्बन्धित हैं। उदयगिरि में प्राप्त लेखों से पता चलता है कि इन गुहाओं का निर्माण चन्द्रगुप्त द्वितीय तथा कुमारगुप्त प्रथम के समय हुआ। इन गुहाओं में तथा साँची के गुप्तकालीन मन्दिर में चौकोर, सादे गर्भगृह तथा उसके सामने स्तम्भों पर आधारित बरामदा या लघु मण्डप मिलता है।

गर्भगृह के भीतर की छत प्रायः कमलालंकृत मिलती है। मध्य प्रदेश के तिगवा (जिला जबलपुर) में भी मन्दिर का ऐसा ही सादा रूप मिला है। उसके द्वार-स्तम्भों पर नदीदेवता (गंगा-यमुना) का आलेखन है। उदयगिरि की प्रसिद्ध वराह-गुहा में गंगा-यमुना को हाथों में घट धारण किये हुए अंकित किया गया है। चौथी शती के अन्त में निर्मित उदयगिरि के गुहा-द्वारों को द्वार-रक्षकों की प्रतिमाओं से उत्कीर्ण किया गया। वहाँ की नवीं गुहा तथा १७ संख्यक गुहा में भीतरी छत पर अलंकृत कमल-रचना दर्शनीय है। एरण (जिला सागर) की प्रारम्भिक गुप्तकालीन मन्दिर की छतें भी इस प्रकार के अलंकरण से सुशोभित थीं। उनके अवशेष हाल में मुझे एरण में देखने को मिले। उदयगिरि की संख्या ६ गुहा का निर्माण लगभग ४०० ई० में हुआ। उसमें गुहा-द्वार पर नीचे आयुध-पुरुषों को तथा स्तम्भ-शीर्षों पर नदीदेवताओं को दिखाया गया है। इसकी तुलना तिगवा के उक्त मन्दिर से की जा सकती है।

गुप्तकालीन गुहा-वास्तु के कुछ ही उदाहरण बचे हैं। परन्तु इस काल में निर्मित पाषाण तथा ईंट के बने मन्दिरों की संख्या बहुत बड़ी है। गुप्तकाल में झाँसी जिले के देवगढ़ से लेकर पूर्व में मध्य प्रदेश के जबलपुर जिले तक के भूभाग में बहुसंख्यक मन्दिरों का निर्माण हुआ। इनमें देवगढ़ का दशावतार मन्दिर, एरण में नृसिंह तथा विष्णु-मन्दिर, नचना (जिला पन्ना) का पार्वती मन्दिर, भूमरा तथा खोह (जिला सतना) के मन्दिर और तिगवा (जिला जबलपुर) के मन्दिर विशेष उल्लेखनीय हैं। कालक्रमानुसार इनका वर्णन नीचे दिया जाता है।

एरण

गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त को, सामरिक अभियानों के कारण, मन्दिरों के निर्माण के लिए शायद ही समय मिला हो। परन्तु उसके यशस्वी पुत्र परमभागवत चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने मन्दिरों तथा प्रतिमाओं के निर्माण की ओर विशेष ध्यान दिया। उसके समय में नृसिंह तथा वराह के मन्दिरों के अतिरिक्त विष्णु का मन्दिर भी बनवाया गया। महाविष्णु की जो कल्पना गुप्तकालीन साहित्य में मिलती है, उसका मूर्त्त रूप एरण के उक्त मन्दिरों में मिलता है। इन मन्दिरों में सपाट छत वाला गर्भगृह तथा स्तम्भों पर आधारित लघु मण्डप था। इनके अनेक अवशेष हाल में प्राप्त हुए हैं। इनमें गज, सिंह तथा नारीमुख-अभिप्राय से अलंकृत स्तम्भ-शीर्ष उल्लेखनीय हैं। एरण के वर्तमान विष्णुमन्दिर का पुनरुद्धार गुप्त-काल के पश्चात् हुआ।

देवगढ़

झाँसी जिला की ललितपुर तहसील में ललितपुर से २३ मील पश्चिम देवगढ़ है। यह बेत्रवती (बेतवा) नदी के किनारे स्थित है। यहाँ का दशावतार विष्णु-मन्दिर गुप्तकालीन वास्तु का उत्कृष्ट उदाहरण है। मन्दिर का ऊपरी भाग नष्ट हो गया है। मन्दिर ऊँची तथा चौड़ी कुर्सी पर बना है। उसके निर्माण में स्थानीय पाषाण का उपयोग किया गया। मन्दिर में गर्भगृह के ऊपर का भाग प्रारम्भिक शिखर का द्योतक है। अब सपाट छत का स्थान मेरु-शिखर लेने लगता है।

देवगढ़-मन्दिर के गर्भगृह का प्रवेश-द्वार अत्यन्त कलापूर्ण है। उसे द्वार-रक्षकों, नदी-देवताओं आदि की मूर्तियों से अलंकृत किया गया है। द्वार-स्तम्भों पर लता-अलंकरण आदि का आलेखन है। सिरदल की विभिन्न शाखाओं को मनोरम अलंकरणों से मण्डित किया गया। उष्णीष के मध्यभाग में चतुर्भुजी विष्णु भगवान् को आसीन दिखाया गया है। मन्दिर का बहिर्भाग भी पत्रावली, कीर्तिमुख आदि अभिप्रायों से सुसज्जित है। दीवारों पर शेषशायी विष्णु, नर-नारायण, गजेन्द्रमोक्ष आदि दृश्यों को अत्यन्त प्रभावोत्पादक ढंग से उत्कीर्ण किया गया। रामायण तथा कृष्ण-लीला के अनेक रोचक दृश्य भी प्रदर्शित हैं। परवर्ती देवमन्दिरों में देवगढ़ के अनेक तत्त्व परिलक्षित हैं। दशावतार मन्दिर गुप्तकाल का प्रारम्भिक शिखर-मन्दिर है। उसका निर्माण-काल ई० पाँचवी शती का पूर्वार्द्ध है। देवगढ़ की पहाड़ी पर अनेक जैन मन्दिरों तथा कलापूर्ण प्रतिमाओं का निर्माण गुप्तकाल से लेकर पूर्व-मध्यकाल के अन्त तक हुआ। जैन वास्तु एवं मूर्तिविज्ञान के विकास की दृष्टि से इन स्मारकों का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

देवगढ़ के दशावतार-मन्दिर के बाद जिन मन्दिरों का भारत के विभिन्न भागों में निर्माण हुआ वे बिलसड़ (जिला एटा), गढ़वा (जिला इलाहाबाद), भीतरी (जिला गाजीपुर), कहौम (जिला देवरिया) के मन्दिर हैं। इनका निर्माण चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय से लेकर स्कन्दगुप्त के समय तक होता रहा। ये मन्दिर अब नष्ट हो गये हैं और उनके ऐसे भग्नावशेष भी उपलब्ध नहीं हैं जिनके आधार पर उन मन्दिरों का यथार्थ रूप निर्धारित किया जा सके। अभिलेखों के अनुसार दामोदरपुर (बंगाल), एरण तथा ग्वालियर में पाँचवीं शती के अन्त में मन्दिरों का निर्माण हुआ। एरण के लेख से ज्ञात होता है कि गुप्त-सम्राट् बुधगुप्त के समय ४८५ ई० में भगवान् विष्णु के मन्दिर के सामने ध्वज-स्तम्भ का निर्माण किया गया। गरुड़-शीर्ष से अलंकृत ४० फुट ऊँचा यह स्तम्भ आज भी एरण में विद्यमान है।

नचना-भुमरा

विन्ध्यक्षेत्र में नचना नामक स्थान पर पाँचवीं शती के अन्त में पार्वती-मन्दिर का निर्माण हुआ। इस मन्दिर की विशेषता यह है कि यह एक ऊँची कुर्सी पर बना है और उसके गर्भ-गृह के चारों ओर प्रदक्षिणा-पथ को ऊपर आच्छादित कर दिया गया। इस मन्दिर के निर्माण को देखकर बौद्ध चैत्यशालाओं का स्मरण हो आता है, जिनमें गर्भगृह को ऊँची कुर्सी पर दिखाने की परम्परा थी। सतना में भुमरा नामक स्थान पर शिवमन्दिर का निर्माण पाँचवीं शती के उत्तरार्ध में हुआ। उसमें गर्भगृह का प्रवेश-द्वार तथा मण्डप प्रारम्भिक गुप्त-मन्दिरों की अपेक्षा अधिक अलंकृत है।

हाल में सतना जिले के ऊँचेहरा (प्राचीन उच्चकल्प) से कुछ दूर पिपरिया नामक स्थान पर गुप्तकालीन मन्दिर की खोज की गयी है। इस मन्दिर के उत्खनन का कार्य १९६८ में इन पंक्तियों के लेखक द्वारा कराया गया। मन्दिर में गर्भगृह के ऊपर की छत नहीं मिली, परन्तु गर्भगृह का अलंकृत द्वार मिला है। द्वार-स्तम्भों तथा सिरदल पर पूर्णघट, पत्रावली, खर्जूर-वल्ली, नरमुख, व्याघ्रमुख आदि के अलंकरण हैं। वराह-अवतार, नवग्रह आदि भी द्वार पर अंकित हैं। स्तम्भों के शीर्ष घटपल्लव अभिप्राय से अलंकृत हैं। यह मन्दिर भगवान् विष्णु का था। विष्णु की प्रतिमा मन्दिर के समीप से ही प्राप्त हुई है।

जबलपुर जिले के मढ़ी नामक स्थान पर एक अन्य गुप्त-मन्दिर की खोज की गयी है। इसके गर्भगृह के आगे सादा मण्डप है। गर्भगृह की सपाट छत तथा वास्तु की सादगी को देखते हुए इस मन्दिर का निर्माण-काल पाँचवीं शती का पूर्वार्द्ध मानना युक्तिसंगत होगा। सतना जिले में खोह, ऊँचेहरा, नागौद आदि अन्य स्थानों पर भी गुप्तकाल में मन्दिरों का निर्माण हुआ। ये सभी मन्दिर प्रायः सपाट छत वाले थे। इनका निर्माण-कार्य प्रायः पाँचवीं शती में सम्पन्न हुआ।

कुमारगुप्त प्रथम के समय में मध्य प्रदेश के मन्दसौर (प्राचीन दशपुर) नामक स्थान पर सूर्य-मन्दिर का निर्माण हुआ। वहीं प्राप्त संवत् ५८६ के एक लेख से ज्ञात होता है कि इस सूर्य-मन्दिर का शिखर बहुत ऊँचा था। उसकी उपमा 'कैलास-तुंग' से दी गयी है।[1]

१. गुप्तकालीन मन्दिरों के कालक्रम-निर्धारण तथा उनकी वास्तु-विशेषताओं के लिए देखिए—पृथ्वीकुमार अग्रवाल, गुप्त-टेम्पल आर्किटेक्चर, पृ० ८६-९०।

भीतरगाँव मन्दिर

कानपुर जिले में कानपुर नगर से लगभग २० मील दक्षिण भीतरगाँव है। वहाँ गुप्तकाल में एक भव्य मन्दिर का निर्माण किया गया। ७० फुट ऊँचा पकी ईंटों से निर्मित यह मन्दिर भगवान् विष्णु के सम्मान में बनवाया गया। वास्तु की दृष्टि से इस मन्दिर का विशेष महत्व है। पाँचवीं शती के अन्त में शिखर का क्या स्वरूप हो चुका था, इसका पता इस मन्दिर से चलता है। ईंट के बने हुए मन्दिरों का अस्तित्व भीतरगाँव मन्दिर के पहले भी था। बंगाल में पहाड़पुर तथा आसाम में दहपर्वतिया नामक स्थलों पर उत्खनन कराने से ईंट के बने हुए गुप्तकालीन मन्दिरों का पता चला है। परन्तु उनके शिखरों के बारे में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं होती।

गुप्तकाल के आरम्भ में वर्गाकार चबूतरों पर चौकोर मन्दिरों का निर्माण मिलता है। उसी परम्परा में भीतरगाँव का मन्दिर बनवाया गया। देवगढ़ के मन्दिर की तरह यहाँ भी ऊँची कुर्सी तथा उसके ऊपर मन्दिर के बाहर निकली हुई दुहरी कोनियाँ देखने को मिलती हैं। मन्दिर का गर्भगृह १५ वर्ग फुट का है। बाहरी अन्तराल का आयाम ७ वर्ग फुट है। मन्दिर में दो प्रदक्षिणा-मार्ग थे, जो नचना के पार्वती-मन्दिर की तरह ऊपर से ढके थे। गर्भगृह के ऊपर उत्तरीय कोष्ठ बना था। गुप्तकाल के पश्चात् निर्मित उत्तर भारतीय मन्दिरों में भीतरगाँव मन्दिर की विशेषताओं को ग्रहण किया गया।

मन्दिर का बहिर्भाग का अलंकरण सुरुचिपूर्ण है। उसके चारों ओर बनाये गये आलों पर पकी मिट्टी की कलापूर्ण प्रतिमाएँ रखी गयी। ये प्रतिमाएँ रामायण, महाभारत तथा पुराणों के बहुसंख्यक दृश्यों को साकार कर देती हैं। मन्दिर के बहिर्भाग की दीवारों पर सज्जा-पट्टियाँ दर्शनीय हैं। मन्दिर के निर्माण में सादगी होते हुए भी वास्तुगत अनेक नवीनतायें हैं, जो गुप्तकाल के प्रारम्भिक मन्दिरों में उपलब्ध नहीं। इस मन्दिर का निर्माण-काल ५०० ई० के आसपास रखना उचित प्रतीत होता है। कनिंघम तथा बनर्जी का विचार कि इस मन्दिर की रचना सातवीं-आठवीं शती में हुई, युक्तिसंगत नहीं जँचता। फोगल ने इसका निर्माण चौथी शती में माना। परन्तु इस मन्दिर की वास्तु-विशेषताओं को देखते हुए इसे इतना आरम्भिक मानना उपयुक्त न होगा।[1]

भीतरगाँव के उक्त मन्दिर का प्रभाव परवर्ती मन्दिर-वास्तु पर देखने को मिलता है। गुप्तों के पश्चात् गुर्जर-प्रतीहार शासकों ने भीतरगाँव के मन्दिर से प्रेरणा ग्रहण की। उनके

१. द्रष्टव्य पृथ्वीकुमार अग्रवाल, वही, पृ० ४४-४७

समय में कन्नौज, ग्वालियर, मड़खेरा आदि स्थानों पर जिन मन्दिरों का निर्माण हुआ उनमें उक्त प्रभाव देखा जा सकता है।

वास्तु में ईंटों का प्रयोग अन्तर्वेदी के अतिरिक्त मध्यप्रदेश के सिरपुर, खरौद, राजिम आदि स्थानों में तथा बंगाल, आसाम आदि क्षेत्रों में मिलता है। कानपुर के समीप फतेहपुर जिले में हाल के सर्वेक्षणों से ईंट के अनेक मन्दिरों का पता चला है, जिनका निर्माण ७वीं से ११वीं शती के बीच किया गया।

स्तूप तथा विहार

मन्दिर-वास्तु के अतिरिक्त गुप्तकाल में बौद्ध तथा जैन धर्म के अनेक स्तूपों का निर्माण हुआ। शक-सातवाहन युग में देश के कई भागों में स्तूपों तथा विहारों का निर्माण किया गया। गुप्तकाल में भी अनेक बौद्ध तथा जैन स्मारकों का निर्माण हुआ। गंधार क्षेत्र में गुप्तकालीन स्तूप पहले की अपेक्षा अधिक परिष्कृत मिले हैं। उनमें मूर्त अलंकरणों की सज्जा में भी प्रगति मिलती है। तक्षशिला के जौलियाँ तथा मुहरा-मुराहू में अनेक स्तूपों तथा विहारों के अवशेष मिले हैं। विहारों को गुप्त-युग में स्वतन्त्र संस्थाओं के रूप में मान्यता मिली। आत्मनिर्भरता के लिए विहारों के अन्तर्गत वे सभी सुविधाएँ एकत्र की गयीं जो भिक्षुओं के लिए आवश्यक थीं। विहारों में गोदाम, भोजनशाला, स्नानागार आदि की व्यवस्था मिलती है। तक्षशिला का भल्लर-स्तूप गुप्तकाल के आरम्भ की कृति है। इस समय तक अधिष्ठान के ऊपरी भाग को सर्वाधिक ऊँचा दिखाने की प्रवृत्ति हो चली थी। प्रारम्भिक अण्ड-भाग का वृत्ताकार अब लम्बायमान रूप में मिलने लगता है।

सिंध प्रान्त में मीरपुर-खास नामक स्थान पर तथा सौराष्ट्र-गुजरात में बनाये गये स्तूप और विहार भी उल्लेखनीय हैं। मीरपुर-खास में ईंटों का बना हुआ स्तूप चौकोर कुर्सी के ऊपर स्थित है। उसके पश्चिमी ओर अधिष्ठान के भीतर तीन कोठरियाँ बनी हैं। स्तूपों में इस प्रकार की कोठरियों का निर्माण एक विशेष बात थी। बर्मा में इस प्रकार के परवर्ती काल में मिलते हैं।[1] मीरपुर-खास के स्तूप का बहिर्भाग उत्कीर्ण ईंटों से सजाया गया। उन पर प्रदर्शित अन्य अलंकरणों के अतिरिक्त बुद्ध-मूर्तियाँ उल्लेखनीय हैं।

मथुरा, अहिच्छत्रा, सारनाथ, अजन्ता आदि स्थानों में गुप्तयुग में बौद्ध स्तूपों और विहारों का निर्माण हुआ। सारनाथ का धमेख स्तूप इसी काल की उल्लेखनीय कृति है। इस स्तूप का अधिष्ठान नहीं है। मध्यवर्ती अण्ड गोलाकार है। अण्ड के ऊपर ढोलाकार

१. ई० कुमारस्वामी, हिस्ट्री आफ इंडियन ऐण्ड इंडोनेशियन आर्ट, पृ० ७३।

रचना है। यह स्तूप १२८ फुट ऊँचा है। स्तूप की बाहरी दीवारों पर आले हैं, जिन पर बुद्ध-मूर्तियाँ रही होंगी। इन आलों के नीचे स्तूप के चारों ओर जाती हुई पत्थर-पट्टी है, जिस पर ज्यामितिक अलंकरण बने हैं।

नगर-सन्निवेश—गुप्तकाल में नगर-सन्निवेश का प्रायः वही रूप मिलता है जिसका वर्णन महाभारत, अर्थशास्त्र तथा बौद्ध-जैन साहित्य में उपलब्ध है। राजप्रासादों तथा दुर्गों के उल्लेख कालिदास, कामन्दक, वराहमिहिर आदि की रचनाओं में मिलते हैं। वराहमिहिर की बृहत्संहिता में साधारण भवनों, राजप्रासादों आदि के निर्माण-सम्बन्धी रोचक वर्णन उपलब्ध है।[1]

गुप्त-युग धार्मिक सहिष्णुता का युग था। अधिकांश गुप्तवंशी शासक यद्यपि वैष्णव थे, किन्तु अन्य धर्मों के प्रति सम्मान का भाव रखते थे। उनके समय में कितने ही लोग अन्य मतावलम्बी होते हुए भी ऊँचे शासकीय पदों पर आसीन रहे। इस काल में वैष्णव, शैव, शाक्त, सौर आदि मतों के साथ बौद्ध एवं जैन धर्म भी बराबर विकसित होते रहे। इन विविध धर्मों से सम्बन्धित देवालयों, स्तूपों, विहारों आदि के जो अवशेष प्राप्त हुए हैं उन्हें देखने से पता चलता है कि शासक-वर्ग एवं जनता दोनों में धर्म के प्रति उदारभावना बड़ी मात्रा में विद्यमान थी। गुप्त-नरेश कुमारगुप्त प्रथम ने नालन्दा में एक बौद्ध विहार की स्थापना करायी, जहाँ आगे चल कर एक बड़े विश्वविद्यालय का निर्माण हुआ। परवर्ती गुप्त-शासकों ने इस विश्वविद्यालय की अभिवृद्धि में पूरा योग दिया। इस काल में जैन-धर्म-सम्बन्धी वास्तु एवं मूर्तिकला की कृतियों का भी निर्माण बड़ी संख्या में हुआ। मथुरा, कौशाम्बी, विदिशा—जैसे नगर बौद्ध तथा जैन धर्म के बड़े केन्द्र के रूप में प्रसिद्ध हो गये।

गुप्त-युग के शान्त एवं सहिष्णु वातावरण में अन्य ललित कलाओं के साथ मूर्तिकला को सर्वांगीण विकास का सुअवसर प्राप्त हुआ। कालिदास, विशाखदत्त, रविकीर्ति आदि तत्कालीन महाकवियों ने जहाँ अपने काव्यों और नाटकों के रूप में वाग्देवी के लिए सरस-सुन्दर हार पिरोये, वहाँ मूर्तिकला के पुजारियों ने अपने उदात्त भावों को पत्थर, मिट्टी और धातु के माध्यम द्वारा शाश्वत रूप प्रदान किया। रूप या सौन्दर्य वासनावृत्तियों को उकसाने का साधन नहीं, बल्कि उसका उद्देश्य ऊँचा है :

१. दे० अजयमित्र शास्त्री, इंडिया ऐज सीन इन दि बृहत्संहिता ऑफ वराह-मिहिर, पृ० ३७२-८३। मंदिर-वास्तु के संबंध में देखिए वही, पृ० ३६४ तथा आगे।

यदुच्यते पार्वति, पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः।

(कुमारसंभव, ५.३६)

महाकवि कालिदास के इस उदात्त भाव का गुप्तकालीन शिल्पियों ने अपनी रचनाओं में सफलता के साथ निर्वाह किया। कला के दिव्य आदर्शों से प्रेरणा प्राप्त कर उन्होंने सौन्दर्य की महत्ता को कलुषित होने से बचाया। गुप्तकाल की जो कला-कृतियाँ उपलब्ध हैं उनमें हमें उस रूप के दर्शन मिलते हैं जो मानव-हृदय में उल्लास, प्रेम और आनन्द का संचार करने के साथ-साथ चित्तवृत्तियों को ऊँचा उठाने में सहायक होता है। सौकुमार्य का गाम्भीर्य के साथ, रमणीयता का संयम के साथ तथा यथार्थ का आदर्श के साथ जैसा सुन्दर समन्वय हमें गुप्तकालीन कला में मिलता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

वास्तुकला के साथ मूर्तिकला का संयुक्त सम्बन्ध गुप्तकाल से विशेष रूप में मिलने लगता है। वाणी और अर्थ की तरह इन दोनों ललितकलाओं का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध भारत की विशेषता है। गुप्तकालीन मूर्तियाँ चार प्रकार की मिली हैं : पाषाण मूर्तियाँ, मिट्टी की मूर्तियाँ, काँसे की मूर्तियाँ और सिक्कों-मुद्राओं पर उत्कीर्ण मूर्तियाँ। पत्थर की मूर्तियाँ गढ़ने के प्रधान केन्द्र देवगढ़ (जिला झाँसी), सारनाथ (वाराणसी), मथुरा, विदिशा, कौशाम्बी, तक्षशिला, ऐहोल आदि थे।

देवगढ़ के पूर्वोक्त दशावतार मन्दिर में लगे हुए कई शिलापट्ट गुप्तकला के उत्कृष्ट नमूने हैं। इनमें तपस्या में संलग्न नर-नारायण, गजेन्द्र-मोक्ष, अहिल्या-उद्धार तथा शेषशायी विष्णु के दृश्य अत्यन्त सुन्दरता के साथ उत्कीर्ण हैं। कतिपय पाषाण-फलकों पर कृष्णलीला तथा रामायण-सम्बन्धी दृश्य हैं। रामायण के कई सुन्दर शिलापट्ट हाल में नचना (जिला पन्ना) से प्राप्त हुए हैं।

सारनाथ में प्राप्त धर्मचक्र-प्रवर्तन मुद्रा में बैठी हुई बुद्ध-मूर्ति गुप्तकाल की सर्वोत्तम बुद्ध-प्रतिमाओं में से है। इसमें बुद्ध का शान्त निःस्पृह भाव कलाकार के द्वारा बड़ी सफलता के साथ व्यक्त किया गया है। सारनाथ से लोकेश्वर शिव का एक सुन्दर मस्तक मिला है, जिसका कलात्मक जटाजूट दर्शनीय है। भारत कलाभवन, काशी में प्रदर्शित कार्तिकेय-मूर्ति भी अपने ढंग की अनुपम प्रतिमा है। इसे देखने से लगता है मानो साक्षात् वीर रस उपस्थित हो गया है।

गुप्तकाल में मथुरा-कला ने बड़ी उन्नति की। बुद्ध की जो मूर्तियाँ इस काल में वहाँ गढ़ी गयीं उनमें शान्ति और गाम्भीर्य के साथ अंगों की कोमलता तथा चेहरे पर मन्द स्मित का भाव बड़े कलात्मक ढंग से व्यक्त किया गया है। जैन तीर्थंकरों की तथा विष्णु

की कई उत्कृष्ट प्रतिमाएँ मथुरा से प्राप्त हुई हैं। इनके अतिरिक्त जनसाधारण के जीवन पर प्रकाश डालने वाले अवशेष भी मिले हैं, जिनके द्वारा तत्कालीन वेशभूषा, आमोद-प्रमोद आदि बातों की जानकारी होती है। मथुरा के समीप रूपवास (जिला भरतपुर) नामक स्थान भी गुप्तकला का अच्छा केन्द्र था, जहाँ से अनेक सुन्दर कलाकृतियाँ प्राप्त हुई हैं।

उत्तर-पश्चिम में गुप्तकालीन मूर्तिकला का एक बड़ा केन्द्र गंधार प्रदेश था। यहाँ सिलेटी नीले पत्थर पर उत्कीर्ण बौद्ध धर्म-सम्बन्धी सैकड़ों कृतियाँ मिली हैं, जो लाहौर, तक्षशिला, पेशावर आदि के संग्रहालयों में प्रदर्शित हैं। इनकी कला यूनानी और वर्ण्य-विषय भारतीय है। चूने-मसाले की गचकारी के बने हुए गांधार कला के कुछ मानव-मस्तक भी उल्लेखनीय हैं।

मध्यभारत में उदयगिरि में उत्कीर्ण वराह की विशालकाय प्रतिमा इस काल की एक विशिष्ट कृति है। वराह भगवान भूमि को अनायास अपने दाँतों पर उठाये हुए दिखाये गये हैं। उनका शौर्य इस मूर्ति में बड़े स्वाभाविक ढंग से व्यक्त किया गया है। मध्यभारत में विदिशा, एरण, पवाया (प्राचीन पद्मावती) आदि अन्य स्थानों से भी इस काल की सुन्दर मूर्तियाँ मिली हैं। इनमें से अधिकांश ग्वालियर तथा विदिशा के पुरातत्व संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। कई प्रतिमाएँ कला की दृष्टि से उच्च कोटि की हैं। हाल में विदिशा से कलापूर्ण तीन तीर्थंकर प्रतिमाएँ मिली हैं, जिन पर 'महाराजाधिराज' उपाधि सहित चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के बड़े भाई रामगुप्त का नाम लिखा है।

गुप्तकाल में विन्ध्यक्षेत्र में शैव धर्म का अच्छा विकास हुआ। खोह नामक स्थान से प्राप्त एकमुख शिवलिंग की मूर्ति, जो ई० पाँचवीं शती की है, गुप्तकालीन कला के उत्कृष्ट उदाहरणों में है। भूमरा, नचना, ऊँचेहरा आदि स्थानों से भी गुप्तकालीन उल्लेखनीय कलाकृतियाँ मिली हैं।

दक्षिण भारत में इस काल में अजन्ता, कन्हेरी, ऐहोल आदि कई स्थानों में कला का उत्कर्ष हुआ। चित्रकला के लिए तो अजन्ता प्रख्यात है ही, वहाँ की गुहाओं में मूर्तिकारों ने भी अत्यन्त प्रवीणता का परिचय दिया। अजन्ता की उन्नीसवीं गुहा में बुद्ध की अनेक सुन्दर मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं, जो उत्तर-गुप्तकाल की हैं। इनमें सपत्नीक बैठे हुए नागराज की प्रतिमा सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है।

कन्हेरी की ६६वीं गुहा में अवलोकितेश्वर की एक अत्यन्त सुन्दर मूर्ति उत्कीर्ण है। उन्हें दो तारा-मूर्तियों के बीच खड़े हुए दिखाया गया है।

बादामी, ऐहोल, पट्टदकल आदि दक्षिण भारत के स्थलों में उत्तर-गुप्तकाल की कई उल्लेखनीय मूर्तियाँ और मन्दिरों के अवशेष मिले हैं।

गुप्तकाल में निर्मित इमारतें अब अधिक संख्या में अवशिष्ट नहीं हैं। पर जो बची हैं उन्हें देखने से ज्ञात होता है कि उस समय मूर्तियों के निर्माण में सुरुचि तथा सौन्दर्य के औदात्य का ध्यान रखा जाता था। मन्दिरों में देव, गन्धर्व, यक्ष-यक्षी, अप्सरा, किन्नर, पत्रावली, स्वस्तिक, कीर्तिमुख आदि कथानक उत्कीर्ण किये जाते थे। कानपुर जिले के भीतरगाँव तथा मध्यप्रदेश के रायपुर जिले में सिरपुर नामक स्थान पर ईंटों के जो मन्दिर मिले हैं उन पर स्त्री-पुरुष, उत्फुल्ल कमल, बेलबूटे तथा जालीदार नक्काशी बड़े भावपूर्ण ढंग से उकेरी हुई मिलती है।

मिट्टी की गुप्तकालीन मूर्तियाँ भी बड़ी संख्या में मिली हैं। पहाड़पुर, राजघाट, भीटा, कौशाम्बी, श्रावस्ती, पवाया, अहिच्छत्रा और मथुरा में जो मृण्मूर्तियाँ मिली हैं उनमें तत्कालीन लोकजीवन की सुन्दर झाँकी मिलती है। पहाड़पुर (जिला राजशाही, बंगाल) के उत्खनन में कृष्णलीला-सम्बन्धी तथा अन्य कितनी ही उल्लेखनीय कृतियाँ मिली हैं। काशी में राजघाट से प्राप्त मिट्टी के खिलौने गुप्तकालीन स्त्री-पुरुषों के अनेक प्रकार के केश-विन्यासों एवं अलंकरणों के अध्ययन की प्रचुर सामग्री प्रस्तुत करते हैं। मध्यभारत में पवाया से कुछ अत्यन्त कलापूर्ण मानव-शीर्ष तथा अन्य मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। अहिच्छत्रा की खुदाई में गुप्तकाल की अनेक छोटी-बड़ी मृण्मूर्तियाँ मिली हैं। उनमें उल्लेखनीय गंगा-यमुना की काय-परिमाण प्रतिमाएँ तथा पार्वती का मनोहर सिर है। पुष्पग्रथित केशपाश तथा घुँघराली अलकों की छवि वाले पार्वती के मस्तक को देखकर कलाकार की प्रतिभा के सामने नतमस्तक हो जाना पड़ता है। अहिच्छत्रा से प्राप्त अलंकृत जटाजूट सहित शिव का सिर भी दर्शनीय है। श्रावस्ती से मिली हुई मूर्तियों में एक असाधारण रूप से बड़ी मृण्मूर्ति है। उसमें एक स्त्री दो बच्चों के साथ बैठी हुई दिखायी गयी है। पास में मोदकों की डलिया रखी है। सम्भवतः यह दृश्य यशोदा सहित कृष्ण-बलराम का है।

धातु की भी कुछ गुप्तकालीन मूर्तियाँ मिली हैं। इनमें सर्वोत्कृष्ट ताँबे की बुद्ध-मूर्ति है, जो सुल्तानगंज (जिला भागलपुर) से मिली है। यह मूर्ति साढ़े सात फुट ऊँची है और ई० पाँचवीं शती की कृति है। बुद्ध का दायाँ हाथ अभयमुद्रा में है और वे बायें से वस्त्र सम्भाले हुए हैं। वस्त्रों को बड़ी बारीकी से दिखाया गया है। मुख की भावपूर्ण मुद्रा सराहनीय है। यह मूर्ति अब इंग्लैंड के बर्मिंघम म्यूजियम में है।

पूर्वी पंजाब के कांगड़ा जिले से बुद्ध की पीतल की एक सुन्दर प्रतिमा मिली है। उसमें उन्हें धर्म-चक्र-प्रवर्तन मुद्रा में दिखाया गया है। मीरपुर-खास (सिंध प्रान्त) से मिली ब्रह्मा की खड़ी हुई चतुर्मुखी मूर्ति गुप्तकालीन कांस्य-प्रतिमाओं के अच्छे उदाहरणों में से है।

गुप्त-शासकों के सोने-चाँदी के सिक्के बड़ी संख्या में उपलब्ध हुए हैं। मूर्तिकला की दृष्टि से उनके स्वर्ण-सिक्के विशेष महत्व के हैं। उन पर सामने की ओर राजा की मूर्ति मिलती है और पीछे लक्ष्मी या अन्य देवता की। इन मूर्तियों से तत्कालीन वेशभूषा का अच्छा परिचय प्राप्त होता है। चन्द्रगुप्त प्रथम और कुमार गुप्त प्रथम के वे सिक्के जिनपर राजा-रानी साथ-साथ दिखाये गये हैं, समुद्रगुप्त तथा कुमारगुप्त के वीणांकित एवं अश्वमेध वाले सिक्के तथा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और कुमारगुप्त के अश्वारोही, छत्र, सिंह-आखेट आदि से अंकित सिक्के विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उन्हें देखने से तत्कालीन विकसित मूर्तिकला का पता चलता है। गुप्तकालीन धातु एवं मिट्टी की मुहरें भी इस दृष्टि से महत्व की हैं।

गुप्तकालीन मूर्तिकला की कुछ और भी विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं। इस काल की मूर्तियाँ प्रायः इकहरे या छरहरे शरीर वाली मिलती हैं, भारी-भरकम या स्थूल आकार की नहीं। उनके चेहरे चौड़े या मोटे न होकर लम्बोतरे मिलते हैं। अंगों में विशेष लोच रहता है तथा खड़े होने के ढंग में आकर्षक भंगिमा। वस्त्राभूषण सूक्ष्म रहते हैं, जो बोझिल न होकर केवल मूर्ति की सौन्दर्य-वृद्धि में योग देते हैं। इस काल की मूर्तियों में अंग-प्रत्यंगों का निखरा हुआ, किन्तु संयमित, रूप देखने को मिलता है और सबसे बड़ी बात रहती है अभीष्ट भावों को व्यक्त करने की असाधारण क्षमता, जो कलाकृतियों को अमरत्व प्रदान करती है।

अध्याय ६

मध्यकाल (६००–१३०० ई०)

गुप्तकाल के पश्चात् भारत की राजनीतिक स्थिति में परिवर्तन के लक्षण स्पष्ट दिखायी पड़ने लगे। विशेषतः उत्तर भारत की संगठित शक्ति विशृंखलित होने लगी।

सातवीं शताब्दी के आरम्भ में उत्तर भारत के शासन की बागडोर पुष्यभूति या वर्धन-वंशी राजा हर्षवर्धन के हाथों में पहुंच गयी। हर्ष एक प्रतापी शासक था। वह मौर्य तथा गुप्त सम्राटों के समान सारे भारत में एक दृढ़ शासन स्थापित करना चाहता था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने दक्षिणापथ पर चढ़ाई की, परन्तु उसमें उसे सफलता नहीं मिली। तब उसने अपनी शक्ति उत्तर भारत की ओर केन्द्रित की और एक विस्तृत साम्राज्य का निर्माण कर लिया। उत्तर भारत के अनेक शासकों ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। हर्ष के समय में प्रसिद्ध चीनी यात्री हुएन-सांग भारत आया। उसने देश के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण लिखा, जो अनेक दृष्टियों से महत्त्व का है। इस विवरण से तत्कालीन भारत के विभिन्न जनपदों की धार्मिक, सामाजिक तथा आर्थिक दशा पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

हर्ष की मृत्यु (६४७ ई०) के बाद राजनीतिक क्षेत्र में पुनः विकेन्द्रीकरण का प्रारम्भ हुआ। उत्तर तथा दक्षिण भारत में अनेक शक्तियों ने अपने-अपने राज्य स्थापित कर लिये। नवीं शताब्दी के अन्त तक उत्तर भारत में उल्लेखनीय राजवंश मगध या परवर्ती गुप्त वंश (५३० से ८२० ई० तक), कन्नौज के मौखरी (४७५–७४१ ई०), आयुध-वंश (७७०-८१६ ई०) तथा गुर्जर-प्रतीहार वंश (५५०-८७० ई०) थे। इनमें से अन्तिम राजवंश विशेष शक्तिशाली हुआ। गुर्जर-प्रतीहारों के बाद कन्नौज पर गाहड़वाल वंश (१०५०-१२०० ई०) का शासन रहा। अन्य मुख्य राजवंशों में बंगाल में पाल (७६५-११७५ ई०) और सेनवंश (१०५८-१२३० ई०), दिल्ली-अजमेर में चाहमान वंश (५५०-११९४ ई०), बुन्देलखण्ड में चन्देल (८३०-१३०८ ई०), ग्वालियर-नरवर क्षेत्र में कच्छपघात (९५०-११५० ई०), डाहल में कलचुरि (८७५-११९५ ई०), मालवा में परमार (८२०-१३१५ ई०) तथा गुजरात में चालुक्य (९६०-१२९८ ई०)

वंश का शासन रहा। उड़ीसा में गंग तथा केसरी वंश (११वीं से १३वीं श०) का आधिपत्य रहा।

इन राजवंशों के शासन-काल में देश में वास्तु तथा मूर्तिकला का अत्यन्त व्यापक विकास हुआ। इनके समकालीन दक्षिण के शासक भी इस दिशा में पीछे नहीं रहे। जैसा आगे दिखाया जायगा, दक्षिण में भी सातवीं से तेरहवीं शती के बीच वास्तु एवं मूर्तिकला का बहुमुखी विस्तार हुआ। वास्तु-विषयक अनेक शास्त्रों की रचना भी इस युग में हुई, जिन पर धार्मिक एवं लौकिक कला के विभिन्न रूप आधारित किये गये।

मन्दिर-वास्तु का शैली-विभाजन

विवेच्य युग में मन्दिर-वास्तु की विविध शाखाएँ पल्लवित-पुष्पित हुईं। उनका वर्गीकरण विभिन्न राजवंशों के संदर्भ में इस प्रकार किया जा सकता है :

१. महाकोसल शैली	(छठी से आठवीं शती)	पाण्डुवंशी शासन।
२. मगध-वंग शैली	(छठी शती के उत्तरार्ध से आठवीं शती)	उत्तर-गुप्तवंश तथा पालों का आरम्भिक शासन।
३. प्रारम्भिक कलिंग शैली	(छठी शती के उत्तरार्ध से ९०० ई० तक)	शैलोद्भव तथा भौम-कर शासन।
४. अन्तर्वेदी-शैली	(छठी शती के उत्तरार्ध से ९०० ई० तक)	कन्नौज का पुष्यभूति-वंश तथा गुर्जर-प्रतीहार।
५. प्रारम्भिक गोपाद्रि शैली	(९वीं - १०वीं शती)	कन्नौज के गुर्जर-प्रतीहार।
६. जेजाकभुक्ति-त्रिपुरी शैली	(९वीं से ११वीं शती)	जेजाकभुक्ति के चन्देल तथा त्रिपुरी के कलचुरि।
७. हिमाचल-शैली	(८वीं के मध्य से १०वीं शती तक)	राजपुरी, त्रिगर्त, चंबा आदि के शासक।

१. यह नवीन शैली-विभाजन अमेरिकन अकादमी, वाराणसी द्वारा किया गया है। उसे कुछ परिवर्तनों के साथ यहाँ साभार स्वीकार किया जाता है।

८. महामारू शैली	(८वीं से १०वीं शती के प्रारम्भ तक)	गुहिल, जालोर और मंडोर के प्रतीहार तथा शाकम्भरी के चाहमान।
९. कर्णाट शैली (उत्तर भारतीय)	(छठी शती के उत्तरार्ध से ८वीं शती तक)	बादामी के पश्चिमी चालुक्य तथा वेंगी के पूर्वी चालुक्य।
१०. सौराष्ट्र शैली	(छठी शती के अन्त से १०वीं शती तक)	वलभी के मैत्रक तथा घुमली के सैंधव।
११. महागुर्जर शैली	(८वीं शती के मध्य से नवीं शती तक)	उत्तर गुजरात के राजवंश, चापवंश तथा कच्छ के शासक।
१२. काश्मीर शैली	(८वीं - ९वीं शती)	कर्कोट तथा उत्पल वंश।
१३. परवर्ती कलिंग शैली	(९०० - १३०० ई०)	सोमवंश तथा गंगवंश।
१४. परवर्ती मगध-वंग शैली	(१०००-१२४५ ई०)	पाल तथा सेन वंश।
१५. परवर्ती अन्तर्वेदीय शैली	(९०० से १२५० ई०)	कन्नौज के परवर्ती प्रतीहार तथा गाहडवाल वंश।
१६. परवर्ती गोपाद्रि शैली	(९५० से ११५०)	ग्वालियर तथा नरवर के कच्छपघात।
१७. परवर्ती महामारू शैली	(९०० से १००० ई०)	शाकम्भरी तथा नाडोल के चाहमान।
१८. परवर्ती महागुर्जर शैली	(९५० से १००० ई०)	चन्द्रावती के परमार, वधवान के चाप, कच्छ के मकुआणा, मेदपाट के गुहिल तथा अनहिलवाड़-पाटण के सोलंकी।
१९. मारु-गुर्जर शैली	(११वीं से १३वीं शती)	अनहिलवाड़-पाटण के सोलंकी तथा उनके समसामयिक शासक, मेदपाट के गुहिल।

२०. कलचुरि शैली	(९०० से १२२० ई०)	त्रिपुरी तथा रतनपुर के कलचुरि।
२१. परवर्ती जेजाकभुक्ति शैली	(९५० से १३०० ई०)	कालिंजर तथा खजुराहो के चंदेल।
२२. कामरूप शैली	(१०वीं शती के उत्तरार्ध से १२२७ ई० तक)	असम के चन्द्रवंशी।
२३. मालवा शैली	(१००० से १३०० ई०)	धारा तथा भोजपुर के परमार।
२४. सिन्धु-सौवीर शैली	(१०वीं से ११वीं शती)	उत्तरी सिन्ध तथा पश्चिमी पंजाब।

मन्दिर-वास्तु की उक्त सूची को देखने से पता चलता है कि पूर्व-मध्यकाल में विभिन्न क्षेत्रों में मन्दिर-निर्माण की प्रवृत्ति बहुत बढ़ी। वास्तु तथा मूर्ति-कला की वृद्धि में न केवल विभिन्न राजवंशों ने योग दिया अपितु अनेक धार्मिक सम्प्रदायों ने अपने-अपने सम्प्रदायों के विकास में इन दोनों ललितकलाओं का प्रचुर रूप में उपयोग किया।

जो बात इस काल में उत्तर भारत के सम्बन्ध में लागू होती है, वही दक्षिण के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। विवेच्य काल में दक्षिण भारत में जिन मुख्य राजवंशों का शासन था, वे इस प्रकार हैं:—

कांची का पल्लव वंश छठी शती के उत्तरार्ध से नवीं शती के अन्त तक शक्तिशाली रहा। दक्षिणापथ में वातापी के चालुक्य वंश की सत्ता छठी शती के आरम्भ से लेकर आठवीं शती के मध्य तक रही। चालुक्यों की दूसरी शाखा गुजरात की थी, जिसका शासन १०वीं शती के अन्त से १३वीं शती के अन्त तक रहा। मान्यखेट का राष्ट्रकूट वंश (७५०-९८२ ई०) चौथी बड़ी शक्ति के रूप में था। दक्षिण भारत की पाँचवीं शक्ति चोलवंश की थी, जिसने नवीं शती के मध्य से लेकर १३वीं शती के मध्य तक दक्षिण भारत की प्रमुख सत्ता के रूप में शासन किया।

मदुरा में पाण्डुवंश का शासन सातवीं शती के आरम्भ से दसवीं शती के प्रथम चतुर्थांश तक कायम रहा। इसके अतिरिक्त उत्तरी कोंकण में कदम्ब (९८५-१३०० ई०) द्वार-समुद्र में होयसल वंश (१०१०-१३४५ ई०) तथा दक्षिण कोंकण में शिलाहारों (७५५-१२१५ ई०) का प्रभुत्व रहा। देवगिरि में यादव, तलकाड तथा कोलार में गंग तथा केरल क्षेत्र में चेर प्रभावशाली थे। तेलंगाना क्षेत्र में काकतीय वंश (१०८३-१३२६ ई०) और वनवासी तथा गोवा में कदम्ब वंश का शासन था।

उक्त तथा अन्य कई छोटे राजवंशों के समय में ललित कलाओं को बड़ा प्रोत्साहन मिला। मन्दिर-वास्तु की जिन अनेक मुख्य शैलियों का विकास इस काल में हुआ उनका विवरण इस प्रकार है :

(अ) उत्तरी द्राविड़ देश-शैलियों का प्रारम्भिक युग (५५० से १०वीं शती के मध्य भाग तक)। इसके अन्तर्गत निम्नलिखित शैलियों को रखा गया है :

१. कर्णाट शैली — (५५० से ७५० ई०)—बादामी के चालुक्य।

२. आरम्भिक आन्ध्र-कर्णाट शैली — (७वीं शती के आरम्भ से १०वीं शती तक)—वेंगी के पूर्वी चालुक्य।

३. कुंतल शैली — (६५० से ९०० ई०)—मान्यखेट के राष्ट्रकूट।

४. गंगवाड़ी शैली — (९वीं–१०वीं शती)—तलकाड, कोलार तथा नंदी के गंगवंश।

५. नोलम्बवाड़ी शैली — (ई० ९ वीं शती)—हेमावती के नोलम्ब।

(आ) दक्षिणी द्राविड़ देश शैलियाँ : (प्रारम्भिक काल ६५० से ८५० ई०)

१. पल्लव शैली — (६५० से १०वीं शती)—कांची के प्रारम्भिक तथा परवर्ती पल्लव वंश।

२. पाण्ड्य शैली — (८वीं शती के मध्य से १०वीं शती के आरम्भ तक)—मदुरा के प्रारम्भिक पाण्ड्य।

३. आरंभिक चोडमण्डल शैली — (८वीं के मध्य से १०वीं शती के अन्त तक)—तंजौर के प्रारम्भिक चोड, मुत्तरैयार तथा इरुकुवेल।

४. परवर्ती चोडमण्डल शैली — (अन्तिम १०वीं से १३वीं शती तक)—तंजौर का चोडवंश।

(इ) उत्तरी द्राविड़ देश की परवर्ती शैलियाँ (१० वीं से १४वीं शती तक)

१. रेनानाडु शैली — (८वीं से ११वीं शती)—तेलगू अंचल के चोल तथा वैडुम्ब।

२.	उत्तरी कर्णाट शैली	(९७३ से ११८९ ई०)—कल्याण के पश्चिमी चालुक्य।
३.	दक्षिणी कर्णाट शैली	(११०० से १२९१ ई०)—द्वारसमुद्र के होयसल।
४.	तैलंग शैली	(१०४३ से १३२६ ई०)—काकतीय।
५.	पश्चिमी कर्णाट शैली	(१०वीं से १२वीं शती)—वनवासी तथा गोवा के कदम्ब।
६.	केरल शैली	(१०वीं से १३वीं शती)—केरल के शासक।

उत्तर तथा दक्षिण भारत के मन्दिर-वास्तु की जिन विभिन्न शैलियों की तालिका ऊपर दी गयी है उनका विकास मुख्य रूप से अपने-अपने क्षेत्र में होता रहा। वास्तु की इन शैलियों में कतिपय स्थानीय विशेषताओं का होना स्वाभाविक था। परन्तु इन विशेषताओं के होते हुए मन्दिर-वास्तु के कतिपय तत्त्व मध्यकालीन भारत में प्रायः समान मिलते हैं। यह वह युग था जब कि पौराणिक धर्म का व्यापक उन्मेष हुआ। विष्णु, सूर्य, शिव, शक्ति तथा गणेश की पंचदेवोपासना इस काल में अत्यधिक विकसित हो चुकी थी। इन मुख्य देवों के अतिरिक्त अन्य कितने ही पौराणिक देवी-देवताओं की पूजा का विकास इस काल में हुआ। उक्त पौराणिक धर्म प्राचीन वैदिक धर्म की विभिन्न शाखाओं के रूप में थे। उनके साथ ही जैन धर्म का इस काल में प्रायः समस्त भारत में प्रसार हुआ। दिगम्बर तथा श्वेताम्बर सम्प्रदाय के जो मन्दिर मध्यकाल में निर्मित हुए उनकी संख्या बहुत बड़ी है। मन्दिर-वास्तु के साथ-साथ प्रतिमा-निर्माण का कार्य द्रुतगति से बढ़ा। गुप्तकाल के इने-गिने कला-केन्द्रों के स्थान पर अब कई गुने अधिक स्थानों पर कला के उक्त दोनों अंगों का अनवरत प्रसार दिखायी पड़ता है।

मन्दिर-स्थापत्य की उक्त शैलियों में से केवल मुख्य शैलियों का ही संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जा रहा है। इन प्रमुख शैलियों के अनेक तत्त्व हम अन्य शैलियों के मन्दिरों में भी पाते हैं। प्रायः उत्तर भारत की नागर शैली तथा दक्षिण की द्राविड़ शैली के मन्दिरों का ही आधिक्य मिलता है। इन दोनों शैलियों की मिश्रित 'वेसर' शैली के भी उदाहरण अनेक मन्दिरों में उपलब्ध है

गुप्तकाल के पश्चात् मन्दिर-स्थापत्य के कतिपय मुख्य लक्षणों का विकास हुआ, जिन्हें हम उत्तर तथा दक्षिण भारत में थोड़े-बहुत विभेदों के साथ पाते हैं। मन्दिर की

उपमा भारतीय वास्तु-शास्त्र में मानव-शरीर से दी गयी। मध्यकाल में पंचायतन मंदिरों का निर्माण बड़े रूप में संपन्न हुआ। भूमितल से लेकर ऊपर के शिखर तक मन्दिर के जिन मुख्य अंगों के वर्णन शास्त्रों में मिलते हैं वे क्रमशः इस प्रकार हैं :

(१) अधिष्ठान या चौकी : इस पर गज्जापट्टी अलंकरण रूप में रहती थी। उसे 'वसन्त पट्टिका' कहा जाता था।

(२) वेदिबंध : यह अधिष्ठान के ठीक ऊपर का गोल या चौकोर अंग है। यह प्राचीन यज्ञ-वेदियों से उद्भूत हुआ।

(३) अन्तरपत्र : वेदिबंध के ऊपर की कल्पवल्ली या पत्रावली-पट्टिका।

(४) जंघा : मन्दिर का मध्यवर्ती धारण-स्थल।

(५) वरंडिका : मन्दिर का ऊपरी बरामदा।

(६) शुकनासिका : मन्दिर के ऊपर का बहिर्निसृत भाग। उसका आकार तोते की नाक की तरह होने के कारण उसका यह नाम पड़ा।

(७) कण्ठ या ग्रीवा : शिखर के ठीक नीचे का भाग।

(८) शिखर : शीर्ष स्थल। शिखर पर खरबूजिया आमलक होता था। धीरे-धीरे गोल आमलक ने लम्बोतरा रूप ग्रहण किया और अन्त में उसी का शिखर रूप बना।

मन्दिर-वास्तु के ये अष्टांग देशव्यापी बन गये। मन्दिर के द्वार मुख या प्रवेश-द्वार को गंगा-यमुना, घटपल्लव, हंस, कीर्तिमुख आदि अलंकरणों से सजाया जाता था। सम्पूर्ण द्वार को कई शाखाओं में विभक्त करने की परम्परा मध्यकालीन स्थापत्य में रूढ़ हो गयी। तत्कालीन साहित्य में 'सप्तशाखाद्वार' के उल्लेख मिलते हैं। ऐसे द्वार सात उत्तरंग वाले होते थे। उनके नाम नागशाखा, रूपशाखा, व्यालशाखा, मिथुनशाखा आदि मिलते हैं। इन विभिन्न शाखाओं पर कलाकारों ने मुख्य देवप्रतिमा के अतिरिक्त सप्तमातृका, नवग्रह, यक्ष, गन्धर्व, सुपर्ण, किन्नर, नाग आदि के रोचक आलेखन किये। अलंकरणों के रूप में वृक्षों, लताओं तथा पशु-पक्षियों की सज्जापट्टियाँ विकसित हुईं। पूर्णघट, कीर्तिमुख, शतदल कमल आदि विविध अलंकरण मन्दिर-द्वारों पर मिलते हैं। मन्दिरों के अन्य भागों को भी विविध अलंकरणों से मण्डित करने की परम्परा चल पड़ी। ये अलंकरण धार्मिक तथा लौकिक दोनों थे। प्रतीकों की जो दीर्घ परम्परा भारतीय धर्मों में मिलती है उसको कलाकारों ने मन्दिरों में मूर्तरूप देकर अमर बनाया। ऐहिक और पारलौकिक कितनी ही मनोरम कल्पनाएँ मन्दिरों में साकार हुईं।

आकृतियों के आधार पर मन्दिरों की विभिन्न संज्ञाएँ कही गईं। मन्दिरों की पंचायतन, पूर्णभद्र, षोडशभद्र आदि संज्ञाएँ तथा उनके सांगोपांग विवरण समकालीन वास्तुशास्त्र में मिलते हैं।

अब हम विवेच्य काल की कतिपय प्रमुख शैलियों के विवरण प्रस्तुत करेंगे। इस काल के अपरिमित वास्तु-सृजन को देखते हुए यह सम्भव नहीं कि सभी केन्द्रों की शैलियों के विवरण यहाँ दिये जायें।

खजुराहो मन्दिर

मध्य प्रदेश के वर्तमान छतरपुर जिले में संसार-प्रसिद्ध खजुराहो स्थित है। मध्यकालीन चन्देल राजवंश के शासनकाल में इस स्थान पर कला का अप्रतिम उन्मेष हुआ। खजुराहो के मन्दिर पूर्व-मध्यकालीन भारतीय वास्तु तथा मूर्तिकला के उत्कृष्ट उदाहरण माने जाते हैं।

इन मन्दिरों का निर्माण ईसवी नवीं शती के उत्तरार्ध से लेकर बारहवीं शती के पूर्वार्ध तक सम्पन्न हुआ। स्थानीय जनश्रुति के अनुसार खजुराहो में कुल ८५ मन्दिर बनाये गये थे, परन्तु इस समय केवल २५ मन्दिर वहाँ देखने को मिलते हैं। इन मन्दिरों के बनाने में दो प्रकार का पत्थर उपयोग में लाया गया : ग्रेनाइट तथा लाल बलुआ पत्थर। प्रारम्भ में बने मन्दिर—चौंसठ योगिनी, ब्रह्मा-मन्दिर तथा लालगुआँ महादेव—अधिकांश ग्रेनाइट पत्थर के बने हैं और शेष में दूसरे प्रकार का पाषाण प्रयुक्त हुआ है। खजुराहो के प्रायः सभी मन्दिर उत्तर भारत की नागर या शिखर-शैली के हैं। शैव मत के मन्दिरों की संख्या सबसे अधिक है। इसके अतिरिक्त वैष्णव तथा जैन सम्प्रदायों के भी मन्दिर वहाँ विद्यमान हैं। इन सभी मन्दिरों की निर्माण-शैली तथा शिल्प-विधान में प्रायः समान तत्त्व मिलते हैं। शैव, वैष्णव या जैन मन्दिर होने के नाते उनमें कुछ विशेष साम्प्रदायिक मूर्तियों के अतिरिक्त विशेष अन्तर नहीं है। विभिन्न सम्प्रदायों के मन्दिरों का पास-पास निर्माण खजुराहो में व्याप्त धार्मिक सहिष्णुता का द्योतक है।

खजुराहो के ये मन्दिर प्रायः ऊँची चौकी या अधिष्ठान के ऊपर बनाये गये। इनके चारों ओर किसी प्रकार का घेरा या दीवार नहीं है। इनका निर्माण पूर्व-पश्चिमाभिमुख धुरी के ऊपर हुआ। अधिष्ठान के ऊपर के भागों को विविध अलंकरणों से सज्जित किया गया। जंघा भाग की ठोस दीवारों के निर्माण में विशेष कारीगरी देखने को मिलती है। प्रकाश और वायु के लिए जालीदार खिड़कियों की व्यवस्था है। खिड़कियों के बीच-बीच में कलापूर्ण प्रतिमाओं का विधान है। मन्दिरों के भीतरी भागों की अपेक्षा बाह्य भागों में

इन प्रतिमाओं की संख्या काफी अधिक है। दीवार के ऊपर मंदिरों की छतों को पर्वत-शिखरों के ढंग पर दिखाया गया है। इन सबका अन्त सबसे ऊपरी शिखर में होता है। यह शिखर मन्दिर के उस गर्भगृह के ठीक ऊपर होता है जहाँ मन्दिर की प्रधान प्रतिमा स्थापित रहती है। खजुराहो के अधिक विकसित मन्दिरों में उनकी ग्रीवा पर गोल आमलक, चन्द्रिकाएँ, छोटे आमलक तथा कलश मिलते हैं। शिखर-शैली के इन मन्दिरों की कल्पना इस बात की परिचायक है कि इनका निर्माण कैलास पर्वत के आधार पर हुआ, जो देवों का निवास-स्थल माना जाता है। खजुराहो-मन्दिरों के भीतरी भाग में गर्भगृह या मुख्य प्रतिमा-स्थल के अतिरिक्त जो अन्य अंग मिलते हैं उनके शास्त्रीय नाम अर्धमण्डप, मण्डप तथा अन्तराल हैं। मन्दिर में प्रवेश करते समय ये क्रमशः पड़ते हैं। बड़े मन्दिरों में मण्डप का आकार विशाल मिलता है, जिसे 'महामण्डप' कहा जाता है। मन्दिरों में प्रवेश-द्वार को मकर-तोरण कहते हैं, जो मकरमुख तथा अन्य विविध अलंकरणों से सुसज्जित रहता है। उसके बाद अर्धमण्डप आता है, जो एक लम्बे मार्ग के रूप में है। उसकी समाप्ति पर मण्डप में पहुँचते हैं। अर्धमण्डप तथा मण्डप तीन ओर से खुले हैं। बड़े मन्दिरों का महामण्डप घिरे हुए एक बड़े कक्ष के रूप में होता है। उसके बीच में चार ऊँचे खम्भे होते हैं, जो सिरदलों को सँभाले रहते हैं। मन्दिर के बाहरी विधान की भाँति भीतरी छत में भी उसी प्रकार के अनेक उतार-चढ़ाव दिखायी पड़ते हैं। महामण्डप तथा गर्भगृह के बीच में जो स्थान रहता है वह अन्तराल (बीच का भाग) कहलाता है। गर्भ-गृह का प्रवेश द्वार भी अन्य अंगों की तरह काफी अलंकृत है।[1]

खजुराहो के प्रारम्भिक मन्दिरों में वास्तु तथा मूर्ति-शिल्प का वैसा निखरा हुआ रूप नहीं मिलता जैसा कि परवर्ती मन्दिरों—लक्ष्मण, पार्श्वनाथ, विश्वनाथ, कंदरिया आदि—में द्रष्टव्य है। बाद के बने हुए इन मन्दिरों में जहाँ स्थापत्य-विषयक विभिन्न अंग उन्नत रूप में दिखायी देते हैं, वहाँ प्रतिमाओं तथा अन्य अलंकरणों का स्वरूप भी परिष्कृत मिलता है। इन दोनों तत्वों का योग निस्संदेह मणि-कांचन योग-जैसा है।

भारतीय वास्तुशास्त्र के मान्य सिद्धान्तों को खजुराहो के कलाकारों ने बड़ी सफलता के साथ इन मन्दिरों में चरितार्थ किया। तत्कालीन वास्तु में शिल्प का वैसा रूप गृहीत न था जैसा कि पहले गुप्तकाल में या बाद में मुगलकाल में देखने को मिलता है। गुप्त-कालीन मन्दिर प्रायः सादगी-सम्पन्न हैं, जिनमें प्रतिमाओं की छटा अत्यन्त सीमित रूप

1. खजुराहो मन्दिर-वास्तु के विषय में दे० कृष्णदेव, 'दि टेम्पल्स ऑफ खजुराहो इन सेंट्रल इंडिया', एंश्येंट इंडिया, संख्या १५ (१९५९), पृ० ४३-६५।

में है। गुप्त-मंदिरों के चार वास्तु-लक्षण हैं: द्वारशाखा, प्रदक्षिणा-पथ, गवाक्ष तथा शिखर का प्रारंभिक रूप। मुगलकाल में बने हुए उत्तर भारत के अनेक मन्दिर अपनी विशालता के लिए प्रसिद्ध हैं, परन्तु उनमें अलंकरण के रूप में प्रतिमा-विधान प्रायः नगण्य है। खजुराहो के मन्दिरों में वास्तु के भव्य विन्यास के साथ-साथ विविध प्रतिमाओं का प्रचुर संयोजन है।

खजुराहो में उपलब्ध बहुसंख्यक मूर्तियों को हम विविध वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। पहले वर्ग में देव-प्रतिमाएँ आती हैं, जिनका निर्माण पूजा के लिए हुआ। ये मूर्तियाँ प्रायः चारों ओर से कोर कर बनायी गयी हैं और उन्हें मन्दिरों के गर्भगृहों अथवा अन्य विशेष स्थलों पर प्रतिष्ठित किया गया। अधिकांश देव-प्रतिमाएँ सीधी खड़ी हुई या समभंग रूप में हैं और कई बहुत विशाल हैं।

दूसरे वर्ग के अन्तर्गत परिवार या पार्श्व-देवता आते हैं। ये अधिकतर बाहरी दीवारों पर या आलों पर बने हैं। इनमें विविध प्रकार के दिक्पालों, गणों, जैन शासन-देवताओं आदि की मूर्तियाँ हैं।

तीसरे वर्ग में विशेषतः वे प्रतिमाएँ हैं जिन्हें 'सुर-सुन्दरी' या 'अप्सरा' कहते हैं। इनकी संख्या बहुत अधिक है। इन्हें अनेक आकर्षक भाव-भंगिमाओं में चित्रित किया गया है। कहीं वे स्नान के बाद बालों से पानी निचोड़ रही हैं, कहीं पैर में आलता लगा रही हैं और कहीं बच्चों या पशु-पक्षियों से खिलवाड़ कर रही हैं। उन्हें कहीं वीणा-वंशी आदि वाद्य-यंत्र बजाते हुए या गेंद खेलते हुए प्रदर्शित किया गया है। इन प्रतिमाओं में उन अनेक नायिकाओं के मूर्त रूप देखने को मिलते हैं जिनका वर्णन भारतीय साहित्य में है।

चौथे वर्ग के अन्तर्गत घरेलू जीवन-सम्बन्धी दृश्य रखे जा सकते हैं। ये दृश्य तत्कालीन जीवन की सुन्दर झाँकी प्रस्तुत करते हैं।

पाँचवें वर्ग में पशु-पक्षियों की प्रतिमाएँ आती हैं। पशुओं में सबसे अधिक शार्दूल मिलता है, जिसे प्रायः सींगों वाले शेर के रूप में चित्रित किया गया है। खजुराहो के कलाकारों को अलंकरण के रूप में इस पशु का अंकन बहुत प्रिय था। अन्य अनेक पशु-पक्षियों का चित्रण भी बड़े प्रभावोत्पादक ढंग से किया गया है। कुछ दृश्य सैनिक अभियानों तथा यात्रोत्सवों के हैं।

खजुराहो की इस कला-राशि में पूर्व-मध्यकालीन भारत का जीवन मूर्तिमान हो उठा है। वेशभूषा, प्रसाधन, संगीत, नृत्य, आखेट, युद्ध आदि के अनेक दृश्य यहाँ देखने को मिलते हैं। इहलोक तथा परलोक की कितनी ही मनोरम भावनाएँ खजुराहो की

बहुसंख्यक मूर्तियों में साकार हो उठी है। प्रकृति और मानव-जीवन की ऐहिक सौन्दर्य-राशि को यहाँ के मन्दिरों में शाश्वत रूप प्रदान कर दिया गया है। शिल्प-शृंगार का इतना प्रचुर तथा व्यापक आयाम भारत के अन्य किसी कला-केन्द्र में शायद ही देखने को मिले।

खजुराहो में कुछ ऐसी मूर्तियों का निर्माण भी हुआ जिन्हें हम उद्दाम शृंगार की जीती-जागती पुत्तलिकाएँ कह सकते हैं। ये मान्मथ मूर्तियाँ इस क्षेत्र में कौल-कापालिकों के तात्कालीन बढ़ते हुए प्रभाव को सूचित करती हैं। तान्त्रिक विचारधारा का यह अर्वाचीन रूप न केवल खजुराहो में, अपितु महाकोसल और उड़ीसा के कई स्थानों में देखने को मिलता है। पुरी, भुवनेश्वर, कोणार्क आदि स्थानों में कला के इस उत्तान शृंगारपरक रूप को हम देखते हैं। भारतीय जन-समाज का एक अंग वाम मतावलम्बियों के द्वारा प्रभावित हो गया था; इसका ये प्रतिमाएँ प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

खजुराहो का रूप-विधान ललित-कला के विविध रूपों का समन्वय है। एक ओर इसमें हमें वात्सल्य-तत्त्व का सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंकन मिलता है तो दूसरी ओर शृंगारिकता तथा रतिचित्रों का उत्कट रूप भी दिखायी देता है।

कलिंग मन्दिर-समूह

कलिंग या उड़ीसा के मन्दिर-समूह भुवनेश्वर, पुरी तथा कोणार्क में स्थित हैं। कलिंग-शैली के ये मन्दिर दक्षिणी समुद्र-तट पर गंजाम तक फैले हैं। इस मन्दिर-समूह का क्षेत्र मयूरभंज तथा बंगाल-बिहार के दक्षिणी छोरों तक मिलता है।

कलिंग-मन्दिरों का निर्माण आठवीं शती से तेरहवीं शती के मध्य तक हुआ। प्रतीत होता है कि इन मन्दिरों के निर्माण में चालुक्य तथा दक्षिण कोसल की अनेक मान्यताओं का प्रभाव रहा। भुवनेश्वर के मन्दिर एक विशेष कोटि में आते हैं। वहाँ मन्दिरों के मुख्य भाग के सामने चौकोर कक्ष मिलता है, जिसे 'जगमोहन' कहते हैं। इस जगमोहन से जुड़ी अन्य कतिपय निर्मितियाँ रहती हैं।

नट मन्दिर, भोग मन्दिर आदि का निर्माण उड़ीसा के इन मन्दिरों की विशेषता है। इन मन्दिरों में स्तम्भों का वैसा जमघट नहीं मिलता जैसा तत्कालीन अन्य मन्दिरों में द्रष्टव्य है। दूसरी विशेषता यह है कि उड़ीसा के मन्दिरों के अन्तर्भाग सादे हैं। उनकी भीतरी दीवारों में वैसी कलाकृतियाँ नहीं मिलतीं जैसी खजुराहो आदि में हैं। परन्तु जहाँ तक बाह्य अलंकरण का सम्बन्ध है, इन मन्दिरों को विविध प्रकार की प्रतिमाओं तथा अलंकरणों से सज्जित किया गया।

भुवनेश्वर के प्रारम्भिक मन्दिर परशुरामेश्वर, वैतालदेउल, उत्तरेश्वर तथा लक्ष्मणेश्वर आदि हैं। इनका निर्माण ७५० से ९०० ई० तक हुआ। दूसरे वर्ग के अन्तर्गत मुक्तेश्वर, लिंगराज, ब्रह्मेश्वर, रामेश्वर तथा जगन्नाथ (पुरी) मन्दिर हैं। ये ९०० तथा ११०० ई० के मध्य निर्मित हुए। अन्तिम वर्ग के अन्तर्गत भुवनेश्वर के सिद्धेश्वर, राजा-रानी आदि मन्दिर हैं। इन्हीं के साथ कोणार्क के प्रसिद्ध सूर्य-मन्दिर की गणना की जाती है। इन सबका निर्माण-काल ११०० से १२५० ई० तक है।

कोणार्क का सूर्य-मन्दिर वास्तु की अद्भुत कृति है। चौड़ी तथा ऊँची चौकी के ऊपर बने हुए इस मन्दिर का आकार असाधारण है। इसका जगमोहन १०० फुट चौड़ा तथा इतना ही ऊँचा है। मन्दिर की नाप तल से शिखर तक २२५ फुट है। मुख्य मन्दिर से जुड़े हुए ३ छोटे देवालय थे। कोणार्क मन्दिर का विशाल प्रांगण ८६५ फुट लम्बा तथा ५४० फुट चौड़ा है। मन्दिर में नटशाला आदि कक्ष भी थे। मन्दिर के बहिर्भाग को विविध प्रतिमाओं से अलंकृत किया गया। सौन्दर्य और कामशास्त्र का अप्रतिबाधित प्रदर्शन इस मन्दिर में देखने को मिलता है।

उत्तर भारत के अन्य मुख्य मन्दिर-वर्गों में गुजरात, काठियावाड़, राजस्थान, मध्य-भारत तथा बिहार-बंगाल के मन्दिर उल्लेखनीय हैं।

अब हम दक्षिण भारतीय वास्तु की मुख्य शैलियों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करेंगे।

चालुक्य शैली

नर्मदा के दक्षिण में ई० पाँचवीं शती के बाद चालुक्यों की शक्ति बढ़ी। उन्होंने बादामी को अपना केन्द्र बनाया। चालुक्यों की अन्य कई शाखाएँ भी हुईं। बादामी के चालुक्य प्रसिद्ध निर्माता हुए। उन्होंने दक्षिण में अनेक भव्य मन्दिरों, प्रासादों तथा प्रतिमाओं का निर्माण कराया।

बादामी तथा ऐहोले के मन्दिर : प्रारम्भिक चालुक्यों के शासन में बादामी तथा ऐहोले में पाँचवीं-छठी शती में मन्दिरों का निर्माण हुआ। ऐहोले में ७० से ऊपर मन्दिर बनाये गये। उनमें से ३० मन्दिर प्राकार से घिरे हुए हैं। समकालीन पश्चिमी भारत में अनेक शैलगुहों का निर्माण किया गया। ऐहोले में 'लाडखाँ' नामक मन्दिर का निर्माण पाँचवीं शती के अन्त में हुआ। इस मन्दिर में गर्भगृह के अतिरिक्त सामने स्तम्भों पर आधारित बरामदा तथा एक बड़ा सभा-कक्ष है। मन्दिर में शिखर का अभाव है। उसके स्थान पर छोटी वामिका बनी है। इसकी छत पर बड़े पत्थरों का प्रयोग किया गया है।

दूसरा उल्लेखनीय दुर्गा-मन्दिर है, जो छठी शती में निर्मित हुआ। इसका निर्माण पश्चिमी भारत की चैत्यशालाओं के अनुरूप हुआ। इस मन्दिर की छत गजपृष्ठाकार है। दुर्गामन्दिर की लम्बाई ६० फुट और चौड़ाई ३६ फुट है। इससे लगा २४ फुट का प्रांगण है। मन्दिर ऊँची चौकी पर बना है और उसकी सपाट छत भूमितल से ३० फुट ऊँची है। मन्दिर का शिखर बाद में बनाया गया। मन्दिर के चारों ओर प्रदक्षिणा-पथ है। भीतरी मण्डप स्तम्भ-पंक्तियों के द्वारा दो भागों में विभक्त है।

दुर्गा मन्दिर की तरह का एक अन्य मन्दिर हुचीमल्लिगुडी में है।

बादामी में छठी शती से मन्दिरों का निर्माण प्रारम्भ हुआ। वहाँ ५७८ ई० में वैदिक धर्म से सम्बन्धित एक विशाल कक्ष का निर्माण शैलगृह के रूप में हुआ। यह स्थान वैष्णव तथा शैव धर्म का केन्द्र बना। यहाँ एक जैन मन्दिर का निर्माण भी शैलगृह के रूप में हुआ।

पट्टदकल के मन्दिर : सातवीं शती के मध्य से पट्टदकल नामक स्थान चालुक्यों का मुख्य सांस्कृतिक केन्द्र बना। यह ऐहोले से १४ मील तथा बादामी से १० मील दूर है। पट्टदकल में सपाट छत का स्थान शिखर ने ले लिया। द्राविड़ वास्तु का प्रारम्भिक रूप पट्टदकल तथा बादामी के मन्दिरों में मिलता है। पहले स्थान पर विजयादित्य (६९६-७३३ ई०) तथा विक्रमादित्य द्वितीय (७३३-४६ ई०) के शासन-काल में अनेक मन्दिरों का निर्माण हुआ। ये मन्दिर बादामी के महाकूटेश्वर मन्दिर की शैली के हैं।

पट्टदकल के ६ मन्दिर द्राविड़ शैली के तथा ४ मन्दिर नागर शैली के हैं। नागर-शैली का पापनाथ नामक मन्दिर उल्लेखनीय है। परन्तु नागर शैली वाले मन्दिर वास्तु की दृष्टि से उतने व्यवस्थित नहीं हैं जितने कि द्राविड़ शैली वाले मन्दिर। पट्टदकल का विरूपाक्ष मन्दिर द्राविड़ शैली का श्रेष्ठ उदाहरण है। मन्दिर का बाह्य भाग कला की दृष्टि से विशेष सुन्दर है। उसके स्तम्भ विविध अलंकरणों से युक्त हैं। इस मंदिर में तथा एलोरा के कैलास-मंदिर में बहुत साम्य है।

दक्षिण में पल्लवों से सम्बन्धित होने के कारण चालुक्यों के स्थापत्य और मूर्तिकला पर पल्लव-कला के अनेक तत्त्व दृष्टिगोचर होते हैं। गोपुरम् के आरम्भिक लक्षण कई परवर्ती चालुक्य-मन्दिरों में मिलते हैं।

रायचूर जिले के आलमपुर नामक स्थान पर भी चालुक्यों ने कई मन्दिर बनवाये। वहाँ के मन्दिरों में एलोरा के कैलास-मन्दिर की कई विशेषताएँ दर्शनीय हैं।

चालुक्य-शैली में उत्तर तथा दक्षिण भारत की नागर-द्राविड़-शैलियों का रोचक समन्वय हुआ, जो 'बेसर' नाम से प्रसिद्ध है। प्रारम्भिक चालुक्य-शैली का प्रभाव दक्षिण भारत की परवर्ती शैलियों पर पड़ा।

पल्लव वास्तु

दक्षिण भारत में पल्लवों का शासन-काल बहुमुखी सांस्कृतिक उन्नति के लिए प्रख्यात है। पल्लव-वास्तु से ही दक्षिण भारतीय स्थापत्य में तीन मुख्य अंगों का उद्भव हुआ। ये तीन हैं—मण्डप, रथ (एकाश्म पूजागृह) तथा विशाल मन्दिर। पर्सी ब्राउन द्वारा कालक्रमानुसार पल्लव-वास्तु को तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया है।[1] प्रथम वर्ग के अन्तर्गत शिलाओं में बनाये गये मण्डप तथा रथ आते हैं। इनका निर्माण-काल ६१० से ६९० ई० माना गया है। मण्डपों का निर्माण राजा महेन्द्रवर्मा प्रथम के समय में हुआ, इसीलिए उन्हें 'महेन्द्र मण्डप' भी कहा जाता है। कुछ मण्डपों तथा रथों का निर्माण सम्राट् मामल्ल के समय में हुआ। अतः उसकी संज्ञा 'मामल्ल शैली' हुई।

पल्लव-स्थापत्य का दूसरा (भूतलीय) स्वरूप इमारतों के रूप में मिलता है। ये मुख्य रूप से पौराणिक धर्म से सम्बन्धित मन्दिर हैं। इनका निर्माण पल्लव-नरेश राजसिंह के समय से प्रारम्भ हुआ और ८०० ई० तक जारी रहा। अतः मन्दिरों की इस श्रेणी का समय ६९० से ८०० ई० तक आता है। द्वितीय पौराणिक वर्ग के मन्दिर नन्दिवर्मा द्वितीय के समय से बनने शुरू हुए। इनका निर्माण-काल ८०० से ९०० ई० तक माना गया है।

शैलवास्तु : इस वास्तु का आरम्भ पूर्वी तथा पश्चिमी भारत में बहुत पहले हो चुका था। उसी परम्परा में पहाड़ों को काट कर पल्लवों ने मण्डपों का निर्माण किया। स्तम्भों पर आधारित इन शालाओं की पिछली दीवार पर एक या अधिक कोठरियाँ रहती थीं। मण्डप के बाहर मुखद्वार होता था। स्तम्भ प्रायः चौकोर हैं। स्तम्भों के ऊपर शीर्ष तथा आलंकारिक वितान रहता है। मण्डपद्वार पर द्वारपालों की मूर्तियाँ मिलती हैं। महेन्द्र-वर्ग में केवल एक मण्डप मिला है। उसके अन्तर्भाग में चौकोर कोठरियाँ, अर्द्ध-मण्डप तथा मुखमण्डप हैं। इन मंडपों का निर्माण बड़े शौक से हुआ। इनके बाह्य तथा अन्तर्भाग अधिक पूर्णता संपन्न हैं। प्रारम्भिक मण्डपों के मजबूत स्तम्भों के स्थान पर अब सुन्दर शीर्षों सहित ऊँचे और पतले खम्भे बनने लगे। अनेक मुख्य देवताओं को भी मण्डपों में प्रदर्शित किया जाने लगा। महाबलीपुरम् में परवर्ती मण्डपों की संख्या अधिक मिली है।

१. पर्सी ब्राउन, वही, पृ० ९३-१०१।

पल्लवरम् में पंचपाण्डव नामक मण्डप तथा दलवनूर में शत्रुमल्ल-मण्डप उल्लेखनीय है। पंचपाण्डव मण्डप में ६ अलंकृत खम्भे हैं, जिनपर व्यालक बने हैं। इसे कृष्ण-मण्डप भी कहते हैं। इसके समीप ही गंगावतरण, किरातार्जुनीय आदि के दृश्य अंकित हैं। पशुओं, नागों आदि का भी आलेखन मण्डपों में मिलता है।

रथ : पल्लव-शिल्पियों द्वारा विशाल चट्टानों को एकाश्म गुफा-गृहों में परिवर्तित किया गया। उनकी संज्ञा 'रथ' हुई। मद्रास से ३२ मील दक्षिण मामल्लपुरम् में इस प्रकार के आठ रथ उल्लेखनीय हैं। ये शैव धर्म से सम्बन्धित हैं। इनके नाम धर्मराज, अर्जुन, गणेश आदि हैं। सबसे छोटा द्रौपदी रथ है। ये रथ पूर्ववर्ती शैलगृहों के परिवर्द्धित रूप हैं। इन रथों पर रामायण, महाभारत तथा पुराणों के रोचक दृश्य उत्कीर्ण हैं। विशाल हाथियों एवं अन्य पशुओं को भी उन पर दिखाया गया है।

भूमितलीय मन्दिर : पल्लव-मन्दिरों में मामल्लपुरम्, कांजीवरम्, पुडिमल्लम् आदि स्थानों में बने हुए देवालय उल्लेखनीय हैं। नरसिंहवर्मा द्वितीय के समय से पहाड़ों को काट कर मन्दिर बनाने की परम्परा समाप्त-सी हो गयी। परन्तु प्रारम्भिक पल्लव-रथों का प्रभाव इन मन्दिरों पर दृष्टव्य है। मामल्लपुरम् का समुद्र तटवर्ती मन्दिर उल्लेखनीय है। यह मन्दिर त्रितल है तथा उसमें दो देवालय हैं : एक शिव का, दूसरा विष्णु का। मन्दिर का शिखर सीढ़ीदार है और उसके शीर्ष को स्तूपिका अलंकृत करती है। मन्दिर एक भारी प्राकार से घिरा है।

पल्लव-शासक राजसिंह द्वारा कांची में कैलासनाथ मन्दिर का निर्माण किया गया। यह विस्तार में प्रथम मन्दिर से बड़ा तथा भव्य है। इसमें गर्भगृह के अतिरिक्त नौ छोटी कोठरियाँ हैं। इस मन्दिर के प्रवेश-द्वारों में वेसर शैली का प्रभाव स्पष्ट है। परवर्ती पल्लव-मन्दिरों में वैकुण्ठ पेरुमल का विष्णुमन्दिर विशेष उल्लेखनीय है। इस मन्दिर का तलीय विन्यास वर्गाकार है तथा उसका विमान ६० फुट ऊँचा है। परिवर्द्धित पल्लव कला का यह सुन्दर उदाहरण है।

चोल वास्तु

चोल-राजवंश का प्रभुत्व न केवल दक्षिण-भारत पर रहा, अपितु इस वंश के शासकों ने अपने प्रभुत्व-काल में हिन्द-चीन तथा हिंदेशिया के एक बड़े भाग को भी प्रभावित किया। इन शासकों के समय में स्थापत्य के अतिरिक्त पाषाण तथा कांस्य-मूर्तिकला बहुत उन्नत हुई। लगभग चार शताब्दियों के अपने दीर्घ शासनकाल में चोलों ने मन्दिर-वास्तु की ओर विशेष ध्यान दिया। मन्दिर-निर्माण का प्रारम्भ विजयालय नामक शासक द्वारा

तंजौर में दुर्गा-मन्दिर के निर्माण से हुआ। इस मन्दिर का गर्भगृह गोल है और उसका व्यास ८ फुट ६ इंच है। मन्दिर का विमान अवरोहीय पंक्तियों वाला है। निचली पंक्तियाँ वर्गाकार हैं तथा ऊपर वाली पंक्ति गोल है। सभी पंक्तियों में कुटियाँ तथा कुडु हैं। मन्दिर के गोल शिखर में भी कुडु अलंकरण बने हैं, जिनपर सिंहललाट-अभिप्राय हैं। गर्भगृह के सामने स्तम्भाधारित मण्डप है। मन्दिर के द्वार पर द्वारपालों की मूर्तियाँ हैं। मुख्य मन्दिर के चारों ओर सात लघु मन्दिर हैं।

चोल-नरेश आदित्य प्रथम के शासन-काल में तिरुकट्टलै में सुन्दरेश्वर मन्दिर का निर्माण हुआ। यह मन्दिर चोल-वास्तु के मध्यवर्ती युग का परिचायक है। इसका गर्भगृह वर्गाकार है और इसमें अर्द्धमण्डप, मुखमण्डप तथा विमान की योजना भी है।

चोल-मन्दिरों में तंजौर का बृहदीश्वर या राजराजेश्वर मन्दिर बहुत प्रसिद्ध है। इसका निर्माण प्रतापी चोल सम्राट् राजराज ने लगभग १००० ई० में कराया। भव्यता, विस्तार तथा कलात्मक सौन्दर्य की दृष्टि से यह मन्दिर दक्षिण भारत का सर्वश्रेष्ठ हिन्दू मन्दिर माना जाता है। वस्तुविन्यास तथा प्रतिमालंकरण की दृष्टि से भी भगवान् शिव का यह देवप्रासाद बेजोड़ है। ५०० फुट लम्बे तथा २५० फुट चौड़े विशाल प्रांगण के मध्य में स्थित इस मन्दिर में मध्यकालीन वास्तु-शास्त्र के सभी लक्षण विद्यमान हैं। मन्दिर में दो गोपुरम् हैं। मन्दिर का गर्भगृह, मण्डप तथा विमान प्रभावोत्पादक हैं। विमान की ऊँचाई १९० फुट है। मन्दिर की तीन बाहरी दीवारों पर आलों की दो पंक्तियाँ हैं, जिनमें विभिन्न देवी-देवताओं की कलात्मक प्रतिमाएँ बनी हैं। गर्भगृह को अनेक सुन्दर मूर्तियों तथा चित्रों से अलंकृत किया गया।

चोल-वास्तु का दूसरा महत्वपूर्ण उदाहरण राजेन्द्र प्रथम द्वारा निर्मित बृहदीश्वर मन्दिर है, जिसका निर्माण लगभग १०२५ ई० में गंगैकोंड-चोलपुरम् में हुआ था। यह स्थान तंजौर से ३८ मील दूर है। मन्दिर का विस्तार ३४० × ११० फुट है। इसका विशाल मण्डप (१७५ फुट × ९५ फुट) १५० स्तम्भों पर आधारित है। विमान की ऊँचाई १८६ फुट है।[1]

उक्त दोनों विशाल मन्दिर इस बात के सूचक हैं कि चोल-शासकों ने अपनी समृद्धि के युग में स्थापत्य का असाधारण विकास किया। भारत के दक्षिणांचल में विद्यमान ये मन्दिर चोल-शासकों की गौरवगाथा का आज भी उद्घोष कर रहे हैं।

१. विस्तृत विवेचन के लिए दे० पर्सी ब्राउन, वही, पृ० १०३-५ ;
मनोरमा जौहरी, साउथ इंडिया ऐंड इट्स आर्किटेक्चर, पृ० ९०-११०।

राष्ट्रकूट शैली

बादामी के चालुक्यों के बाद उस भूभाग पर राष्ट्रकूटों का आधिपत्य स्थापित हुआ। इस वंश ने मान्यखेट को अपनी राजधानी बनाया। राष्ट्रकूट शासक कृष्ण प्रथम (७५४ से ७७२ ई०) के द्वारा एलोरा में कैलाशनाथ मन्दिर का निर्माण पूर्ण कराया गया। यह मन्दिर शैल-वास्तु का अप्रतिम उदाहरण माना जाता है। पूरे पर्वत को काट कर इस भव्य मन्दिर का निर्माण किया गया। पहाड़ को काट कर बनाये गये देवायतनों में यह मन्दिर सर्वाधिक विशाल तथा कलापूर्ण है। एलोरा के प्रवीण शिल्पियों ने बड़ी कुशलता से पर्वत को काटा। ऊँची चौकी पर यह मन्दिर आज भी अपने समग्र रूप में खड़ा है। इसके साथ दो स्तम्भों का निर्माण हुआ तथा कायपरिमाण गजावली का चित्रण शैल पर किया गया।[1]

मन्दिर एक आयताकार आंगन के बीच में स्थित है। स्तम्भों को विविध अलंकरणों से मंडित किया गया। मन्दिर में प्रवेश-द्वार, विमान तथा मण्डप हैं। अधिष्ठान २५ फुट ऊँचा है। मण्डप से होकर गर्भगृह तक पहुँचने का प्रकोष्ठ बना है। गर्भगृह के ऊपर चार तल वाला शिखर है, जिसका निर्माण द्राविड़-शैली का है। शिखर पर स्तूपिका बनी है। इस प्रकार की स्तूपिकाएँ पल्लव-रथों में देखी जा सकती हैं। मन्दिर के विमान की ऊँचाई ९५ फुट है।

मुख्य मन्दिर के अतिरिक्त एलोरा में अनेक देवताओं के लघु मन्दिर भी हैं। इन मन्दिरों में मूर्ति-विधान सुरुचिपूर्ण है। मंदिर का चतुस्तल (चार मंजिला) सन्निवेश विशेष रूप से उल्लेखनीय है। मंदिर के भूतलीय मुख्य कक्ष से द्वितीय तल तक पहुँचने का मार्ग बनाया गया था और इसी प्रकार क्रमशः अन्य तलों तक। द्वितीय तथा तृतीय तलों के सम्मुख के भाग मनोहर शाखा-पट्टिकाओं से सुसज्जित हैं। तृतीय तल में छत को सँभाले हुए स्तंभ चापयुक्त हैं। अंतिम चौथी मंजिल से बाहर जाने के लिए मार्ग है।

मंदिर के मुख्य मंडप में छह खिड़कियाँ थीं, जिनमें से दक्षिण-पश्चिम की ओर वाली खिड़की भग्न है। इन गवाक्षों की पत्रावली-रचना तथा पशु-अलंकरण अत्यन्त रोचक हैं। विविध द्वारों के अतिरिक्त खिड़कियों का विधान इसलिए किया गया कि मंदिर के अन्दर प्रकाश की पर्याप्त व्यवस्था रहे। अन्धकासुर के नष्टकर्ता शिव के प्रासाद के लिए यह नितांत युक्तिसंगत कहा जा सकता है।

१. दे० फर्गुसन तथा बर्जेस, दि केव टेम्पल्स, पृ० ४४८-६३; बर्जेस, एलोरा केव टेम्पल्स, (१८८), पृ० २६-३७।

मंदिर के चारों ओर एक-एक लम्बी वीथी है। इन वीथियों में सुरुचिपूर्ण ढंग से विविध मूर्तियाँ उकेरी गयी हैं। पश्चिम की ओर वाली वीथी १२० फुट लम्बी है जिसमें बड़े आलों में विशाल मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। दक्षिणी वीथी की लम्बाई ११८ फुट है। इसमें १२ आले हैं, जिनमें शिव तथा देवी के विभिन्न रूपों के अतिरिक्त कालिय-मर्दक तथा गोवर्धनधर कृष्ण की प्रतिमाएँ उत्खचित हैं। अन्य मूर्तियाँ विष्णु के अन्य अवतारों की हैं। पूर्वी वीथी की कुल लम्बाई १८६ फुट है। यहाँ भी शिव के विविध रूप दर्शनीय हैं। उत्तर वाली वीथी १२० फुट लम्बी है, जिसमें बारह बड़ी प्रतिमाएँ हैं।

गोपुरम् के अतिरिक्त मंदिर के अन्य बहिर्भाग रोचक कलाकृतियों से समृद्ध हैं। नटराज, अर्धनारीश्वर, उमा-महेश्वर, महिषमर्दिनी, दुर्गा एवं अन्य पौराणिक देवों तथा कथाओं के कितने ही मनोरंजक रूप कैलाश-मंदिर तथा एलोरा के अन्य प्रासादों में मूर्तिमान हैं। वास्तुकला की तरह इस काल की मूर्तिकला में भी गुप्त-युग की अपेक्षा अधिक विशालता, आलंकारिकता तथा चमत्कार देखने को मिलता है।

अध्याय १०

भारतीय वास्तु का विदेशों में प्रसार

एक पृथक् भूमिखण्ड-सा दिखायी पड़ने पर भी भारत संसार से कभी अलग नहीं रहा है। बहुत प्राचीन काल में भारत के निवासी अपने पड़ोसी देशों के साथ स्थल तथा जल मार्गों द्वारा यातायात सम्बन्ध स्थापित कर चुके थे। पश्चिम में प्राचीन भारत के व्यापारिक सम्बन्ध अफगानिस्तान, ईरान, बेबीलोन, मिस्र और यूनान के साथ; उत्तर में मध्य एशिया; पूर्व में चीन के साथ तथा दक्षिण-पूर्व एवं दक्षिण में बर्मा, हिंदचीन, हिंदेशिया तथा लंका के साथ रहे।

उक्त देशों के साथ एक दीर्घ काल तक आर्थिक सम्बन्ध स्थापित रहने के कारण भारत और इन देशों के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान का होना अनिवार्य था। मौर्य सम्राट् अशोक के समय से भारत के द्वारा सांस्कृतिक सम्पर्क बढ़ाने की प्रवृत्ति का स्पष्ट पता चलता है। अशोक ने 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की उदार भारतीय भावना को कार्य रूप में परिणत करने का सराहनीय प्रयत्न किया। उसने लंका, बर्मा, असीरिया, मिस्र, मेसीडोनिया, एपीरस आदि देशों में अनेक विद्वान् भेजे, जिन्होंने इन देशों को कल्याणकारी धर्म का सन्देश सुनाया। अशोक के बाद वैरोचन, काश्यप, मातंग, धर्मरक्ष, आर्यकाल, कुमारजीव, गुणवर्मा, होदो, शान्तिरक्षित, दीपंकर, श्रीज्ञान आदि विद्वानों ने चीन, जापान, तिब्बत आदि देशों में सांस्कृतिक प्रचार का कार्य बड़ी लगन के साथ किया। धर्म-प्रचारकों की यह परम्परा १२वीं शताब्दी के अन्त तक जारी रही। इन लोगों ने कितने ही भारतीय ग्रन्थों का विदेशी भाषाओं में अनुवाद कर धर्म के साथ-साथ साहित्य के संरक्षण एवं अभिवृद्धि में भी विपुल योग दिया।

व्यापारियों तथा धर्म-प्रचारकों के विदेशों में आवागमन के फलस्वरूप भारतीय संस्कृति की व्यापकता बढ़ी। एशिया महाद्वीप के अनेक देशों में न केवल यहाँ की भाषा, रहन-सहन और आचार-विचार को अपनाया गया, अपितु भारतीय स्थापत्य, मूर्तिकला और चित्रकला का भी वहाँ प्रसार हुआ।

भारत ने स्तूप तथा मन्दिर के रूप में स्थापत्य के दो प्रमुख धार्मिक रूपों को जन्म दिया। इन दोनों के उद्भव तथा विभिन्न शैलियों में उनके विकास की कथा पिछले अध्यायों में दी गयी है। स्तूप तथा मन्दिर का निर्माण भारत की सीमाओं तक ही आबद्ध नहीं रहा। बहुत प्राचीन काल से भारत के पड़ोसी देशों ने इन दोनों को अपनाना आरम्भ किया और अपनी आवश्यकताओं के अनुसार उन्हें आगे बढ़ाया। सर आरिल स्टाइन ने हाल में मध्य एशिया में जो अनुसन्धान किये उनसे पता चला है कि ई० तृतीय शती के अन्त तक मध्य एशिया में अनेक भारतीय बस्तियाँ स्थापित हो गयी थीं, जिनमें प्रधानतया बौद्ध लोग रहते थे। भारतीयों ने फरात नदी के कांठे में भी अपनी कुछ बस्तियाँ बसा ली थी और वहाँ दो मन्दिर भी बनवाये थे। ये मन्दिर चौथी शती के आरम्भ में नष्ट कर दिये गये। अतः इन मन्दिरों का आकार-प्रकार क्या था, यह निश्चित रूप से नहीं बताया जा सकता। ई० पूर्व प्रथम शती के मध्य में एशिया में खोतन राज्य का शासक विजयसम्भव हुआ, जिसने अर्हत वैरोचन नामक बौद्ध भिक्षु से दीक्षा ली। उसके वंशज विजयवीर्य, विजयजय, विजयधर्म आदि हुए। इन शासकों के राज्यकाल में बौद्धस्तूपों तथा विहारों का निर्माण मध्य एशिया के अनेक स्थानों पर हुआ। खोतन (कुस्तन) नगर के निकट जिस बड़े विहार की स्थापना हुई उसका नाम 'गोश्रृंग विहार' मिलता है। कुछ समय पूर्व इस विशाल विहार के कतिपय अवशेष प्राप्त हुए हैं। ई० तीसरी शती में खोतन का 'गोमति विहार' शिक्षा का केन्द्र था। चौथी शती के अन्त में जब फाह्यान वहाँ गया तो उसने इस केन्द्र को काफी उन्नत दशा में पाया। वहाँ उस समय महायान-मतावलम्बी तीन हजार बौद्ध भिक्षु रहते थे।

अनुमान होता है कि मध्य एशिया के स्तूपों की निर्माण-शैली बहुत-कुछ उसी ढंग की थी जैसी कि साँची या तक्षशिला के स्तूपों में मिलती है। खरोष्ठी लिपि में लिखी जाने वाली भारतीय प्राकृत भाषा मध्य एशिया की प्रधान भाषा बन गयी थी। उसमें लिखे हुए शिलाक्षरी लेख मध्य एशिया के अनेक भागों में प्राप्त हुए हैं। शक-सातवाहन काल में मध्य एशिया के अनेक राज्यों के भारतीय नाम—जैसे शैल देश, चोलकुक, खोतम्र, कल्मद, भरुक, कूची आदि—मिले हैं। इनमें दक्षिण में खोतम्र तथा उत्तर में कूची भारतीय संस्कृति के प्रधान केन्द्र थे, जहाँ से भारतीय भाषा, साहित्य और कला का प्रसार मध्य एशिया के अन्य प्रदेशों में भी हुआ।

ई० सन् के आरम्भ में भारतीयों का ध्यान पूर्वी देशों की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुआ। भारतीय अन्वेषकों ने धीरे-धीरे मलाया, बर्मा, स्याम, कम्बोडिया, अनाम तथा हिंदेशिया के द्वीपों में अपनी अनेक बस्तियाँ बसायीं। उनके नाम चंप, श्रीक्षेत्र, कम्बुज,

मालव, दशार्ण, चम्पा, श्रीविजय आदि मिले हैं। इन राज्यों में नगरों के नाम भी भारतीय रखे गये, जैसे हस्तिनापुर, अयोध्या, वैशाली, मथुरा, कुसुमनगर, रामावती द्वारवती आदि। अधिकांश राज्यों के शासक भारतीय थे। गुप्तकाल में ये स्थान भारतीय संस्कृति के रंग में पूर्णतया रंग गये। भारतीय रीति-रिवाज, लिपि, भाषा और कला का इन देशों में बराबर प्रसार होता रहा। भारतीय लोग वहाँ के निवासियों के साथ खान-पान तथा वैवाहिक संबंध करने लगे। बृहत्तर भारत की एक सीमा वंक्षु और तारीम नदियों के काठे तक पहुँची थी दूसरी हिन्दचीन और हिंदेशिया के पूर्वी छोरों तक।

हिन्दचीन तथा हिंदेशिया के विभिन्न भागों से वास्तुकला एवं मूर्तिकला के जो सैकड़ों अवशेष उपलब्ध हुए हैं उनसे एक लम्बे समय तक इन प्रदेशों में भारतीय संस्कृति के व्यापक प्रसार का पता चलता है। उत्तर-गुप्तकाल की जो इमारतें हिन्दचीन में मिली हैं उनसे ज्ञात होता है कि बौद्ध तथा हिन्दू इमारतों का निर्माण कुछ समय तक साथ-साथ चलता रहा। बर्मा में प्रोम और थटोन आदि स्थानों से प्राप्त बौद्ध स्तूपों तथा वैष्णव एवं शैव मन्दिरों के प्राप्त अवशेषों से यह बात प्रमाणित होती है। कम्बोडिया में प्राप्त हिन्दू मन्दिरों का वास्तु विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनका ढंग लगभग उसी प्रकार का है जैसा उत्तर प्रदेश में देवगढ़ के गुप्तकालीन मन्दिर में मिलता है। कम्बोडिया के मन्दिर चौकोर आकृति के तथा सपाट छत वाले हैं। उनमें प्रदक्षिणा-मार्ग नहीं मिलता। ईंट से निर्मित लगभग ५० मन्दिर कम्बोडिया के प्रैकुक, कोपंग, थोम आदि स्थानों में मिले हैं। उनकी बाहरी दीवारों पर उत्कीर्ण शिलापट्ट बड़ी संख्या में मिले हैं। इन पर प्रायः विष्णु, ब्रह्मा, शिव, दुर्गा, गणेश आदि हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्तियाँ मिली हैं। बौद्ध मूर्तियाँ भी कम्बुज में प्राप्त हुई हैं, पर अपेक्षाकृत कम। हिन्दचीन के पूर्वी छोर पर, जिसे प्राचीन काल में 'चम्पा' कहते थे, मिसोन नामक स्थान में धर्मराज श्री भद्रवर्मा ने चौथी शती के अन्त में भद्रेश्वर स्वामी महादेव का एक विशाल मन्दिर बनवाया, जो बाद में हिन्दचीन तथा हिंदेशिया का एक सांस्कृतिक केन्द्र बना। चम्पा तथा कम्बुज के अधिकांश शासक हिंदू धर्म के अनुयायी थे और उनके समय में इन देशों में भारतीय संस्कृति का अच्छा प्रसार हुआ। कम्बुज के अभिलेखों में भारत को 'आर्यदेश' कहा गया है।

ई० ६०० से लेकर प्रायः १३०० ई० तक पूर्व-मध्यकाल में दक्षिण-पूर्व के वास्तु पर भारतीय प्रभाव विशेष रूप से दृष्टिगोचर होता है। इस काल के अवशेष भी अधिक मिले हैं। बर्मा के अनेक नगरों में इस काल में बौद्ध तथा हिन्दू मन्दिरों का बड़ी संख्या में निर्माण हुआ। पगान शहर के लगभग पाँच हजार पगोडों में प्राचीन आनन्द मन्दिर

उल्लेखनीय है। यह बर्मा के राजा किजित्थ के शासन-काल (१०८४-१११२ ई०) में बना। इसका निर्माण भारत के कारीगरों द्वारा किया गया। इस मन्दिर में बौद्ध धर्म सम्बन्धी मूर्तियों की संख्या ८१ है तथा लगभग डेढ़ हजार मृण्मूर्तियाँ मन्दिर में यथास्थान लगी हैं, जिन पर जातक दृश्य बड़ी सुन्दरता के साथ उत्कीर्ण हैं। मन्दिर के बहिर्भाग में इस प्रकार के शिला-पट्टों का प्रदर्शन उत्तर तथा दक्षिण भारत के मन्दिरों में प्रायः मिलता है। बर्मा के अधिकांश मन्दिर ईंटों के बने हैं। उनकी भीतरी दीवारों पर जो अलंकरण हैं वे बंगाल की पाल-चित्रकला से प्रभावित हैं।

कम्बोडिया के अंकोरथम नगर में राजा यशोवर्मा के द्वारा बनवाये हुए मन्दिर में हिन्दू और बौद्ध मूर्तियाँ साथ-साथ उकेरी मिली हैं। राजा जयवर्मा सप्तम ने १२वीं शती के अन्त में अंकोरथम का पुनर्निर्माण कराया, जिसमें भारतीय वास्तुकला की ओर विशेष ध्यान दिया गया। कम्बोडिया का सबसे महत्वपूर्ण भारतीय मन्दिर ११२५ ई० में कम्बुज के शासक सूर्यवर्मा द्वितीय के द्वारा बनवाया गया। यह अंकोरवट के मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध है। जिस नगर में यह मन्दिर बनाया गया उसका प्राचीन नाम यशोधरपुर था। इस विशाल मन्दिर में रामायण की सारी कथा को मूर्त रूप दिया गया। इसके अलावा मंदिर में महाभारत और पुराणों के दृश्य, यक्ष, किन्नर, गन्धर्व, तथा अप्सराएँ जगह-जगह अत्यन्त सुन्दरता के साथ अंकित हैं। वास्तव में यह मन्दिर मध्यकालीन हिन्दू स्थापत्य की एक उत्कृष्ट कृति है, जिसमें वास्तुकला, मूर्तिकला और साहित्य की झाँकी एकत्र मिलती है। अंकोरवट के अतिरिक्त कम्बोडिया में बफून, बंतेचमर आदि की इमारतें भी दर्शनीय हैं, जिन पर भारतीय वास्तु का स्पष्ट प्रभाव है। मलाया में मध्यकाल में हिन्दू तथा बौद्ध मन्दिर प्रचुरता से मिले हैं। मलाया के वेलेजली प्रान्त में बौद्ध मन्दिरों के अवशेष तथा कुछ महत्वपूर्ण अभिलेख प्राप्त हुए हैं।

सातवीं शती से सुमात्रा-जावा में श्रीविजय राज्य का आधिपत्य शैलेन्द्र वंश के हाथ में गया। शैलेन्द्र लोग कलिंग-प्रदेश से सुमात्रा के दक्षिण में पहुँचे थे। धीरे-धीरे उन्होंने मलाया, सुमात्रा, जावा तथा निकटस्थ द्वीपों पर अधिकार कर लिया। ये शासक महायान बौद्ध सम्प्रदाय के अनुयायी थे। बौद्ध मत के प्रसार के लिए उन्होंने बड़ा उद्योग किया। शैलेन्द्र राजाओं ने मगध-शासकों के साथ मैत्री-सम्बन्ध रखा। शैलेन्द्र राजा बालपुत्रदेव ने नालन्दा में एक बड़ा बौद्ध विहार स्थापित किया। इस वंश ने चंडी-कलसन नामक स्थान पर तारादेवी का भी एक बड़ा मन्दिर बनवाया।

शैलेन्द्र शासन-काल की सबसे अधिक उल्लेखनीय इमारत बोरोबुदुर का स्तूप है। इसका निर्माण ८वीं शताब्दी के अन्त में जावा में हुआ। इस विशाल इमारत में ९ खण्ड हैं। निचले ६ खण्ड चौकोर हैं तथा ऊपर के तीन गोलाकार। इस भव्य इमारत के द्वार तथा प्रदक्षिणा-मार्ग विविध उत्कीर्ण शिलापट्टों से सुसज्जित हैं। कुल शिलापट्टों की संख्या १,५०० से ऊपर है। भगवान् बुद्ध की जीवन-गाथा, जो अनेक बौद्ध ग्रन्थों में मिलती है, इन शिलापट्टों पर बड़ी सजीवता के साथ उत्कीर्ण है। शिल्पियों ने जिस कुशलता के साथ प्रकृति और मानव-जीवन की अनेकरूपता का चित्रण पत्थर पर किया है वह अत्यन्त सराहनीय है।

बोरोबुदुर के अतिरिक्त नवीं शताब्दी में निर्मित परंबनम् के तीन विशाल मन्दिर भी उल्लेखनीय हैं। ये क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और शिव के हैं। तीसरे मन्दिर पर रामायण की सारी कथा उकेरी हुई है। इसे देखने पर महाकाव्य की घटनाएँ हमारी आँखों के सामने मूर्त हो जाती हैं। मल्लम् नगर के समीप जागो का बौद्ध मन्दिर है, जिस पर कृष्ण-लीलाओं का सुन्दर प्रदर्शन है। वास्तव में सुदूर पूर्व के ये मन्दिर हिन्दू और बौद्ध धर्म के समन्वय के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। मध्यकाल के इमारती पत्थर हिंद-चीन तथा हिंदेशिया में बहुलता से उपलब्ध हुए हैं। इनमें से कुछ तो मन्दिरों के हैं और शेष मकानों के। इन पर भारतीय अलंकरण-चिह्न—कमल, मंगल-घट, कीर्तिमुख, मकर, पशु-पक्षी, लता आदि—बड़े कलात्मक एवं प्रभावोत्पादक ढंग से अंकित मिलते हैं।

दक्षिण में लंका की प्राचीन वास्तुकला पर भी भारतीय स्थापत्य की पूरी छाप है। अशोक के समकालीन राजा देवानांप्रिय तिस्स ने महेन्द्र और संघमित्रा के सम्मानार्थ एक महाविहार की स्थापना की, जो सिंहल में बौद्ध धर्म का एक प्रधान केन्द्र बन गया। अनु-राधापुर तथा पोलन्नरुव में अनेक बौद्ध स्तूप अब भी विद्यमान हैं। ई० पूर्व १०० के लगभग अनुराधापुर में जिस दीर्घाकार स्तूप ('महाथूप') का निर्माण हुआ उसके गोले की ऊँचाई २७० फुट है। ईसवी चौथी शती में सिंहल के राजा मेघवर्ण ने जेतवनाराम का निर्माण कराया।

मध्यकाल में हिन्दू धर्म सिंहल में बहुत फैला। १०वीं-११वीं शती में जब सिंहल चोल-शासकों के आधिपत्य में गया तब वहाँ चोल-शैली के हिन्दु-मन्दिरों का निर्माण हुआ। कुछ मन्दिरों में बड़े ही सुन्दर अलंकृत विमान मिलते हैं। लंका में सिगरिय नामक स्थान पर राजा काश्यप के प्रासाद मिले हैं, जिनके भित्तिचित्र उसी प्रकार के हैं जैसे कि हमें अजन्ता में मिले हैं।

भारतीय स्थापत्य के विभिन्न अंगों का विकास विदेशों में दीर्घकाल तक हुआ। भारतीय संस्कृति ने अपनी उदारता के कारण अन्य क्षेत्रों की तरह वास्तुकला के क्षेत्र में भी अपना स्थायी प्रभाव स्थापित किया। शताब्दियों तक विभिन्न देशों के कलाकार भारतीय कला के सिद्धान्तों से प्रेरणा ग्रहण कर अपनी कृतियों को मण्डित करते रहे।

भारतीय प्रभाव की मूर्तरूप इमारतें एशिया के अनेक देशों में अबतक विद्यमान हैं, जो भारत की सांस्कृतिक विजय की मधुर स्मृति संजोये हुए हैं।

सहायक ग्रन्थ-सूची

१. मूलभूत ग्रन्थ

अग्निपुराण : सम्पादक आप्टे, आनन्दाश्रम, पूना।

अर्थशास्त्र : सम्पादक कांगले, बम्बई।

आश्वलायन गृह्यसूत्र : सम्पादक—महामहोपाध्याय गणपति शास्त्री, गवर्नमेंट प्रेस, त्रिवेन्द्रम।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र।

कामन्दकीय नीतिसार काव्यमीमांसा : सम्पादक सी० डी० दलाल तथा आर० अनन्तकृष्ण, बड़ौदा।

जातक ग्रंथ

दिव्यावदान : सम्पादक कावेल, कैम्ब्रिज, १८८६।

नाट्यशास्त्र : सम्पादक रामकृष्ण कवि, ओरिएंटल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा, १९३४।

नवसाहसांकचरित : सम्पादक पं० वामन शास्त्री, प्रकाशक गवर्नमेंट सेन्ट्रल बुक डिपो, बम्बई, १८९५।

प्रतिमामान लक्षण : सम्पादक फणीन्द्रनाथ बोस, प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास, बनारस, १९२९।

बृहत्संहिता : सम्पादक सुधाकर द्विवेदी, बनारस।

ब्रह्मपुराण : वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई।

ब्रह्मवैवर्तपुराण : वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई।

भविष्य पुराण : वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई।

मार्कण्डेय पुराण : वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई।

मानसार : सम्पादक प्र० कु० आचार्य, प्रकाशक आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

मयमतम् : सम्पादक गणपति शास्त्री, प्रकाशक गवर्नमेंट प्रेस, त्रिवेन्द्रम।

महाभारत : क्रिटिकल एडीशन, पूना।

मृच्छकटिक : सम्पादक आर० डी० करमरकर, द्वितीय संस्करण, १९५०।

मत्स्यपुराण : सम्पादक हरि नारायण आप्टे, प्रकाशक आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, १९०७।

युक्तिकल्पतरु : सम्पादक ईश्वर चन्द्र शास्त्री, ओरियण्टल सिरीज कलकत्ता, १९१७।

रामायण : सम्पादक टी० आर० कृष्णाचार्य, प्रकाशक निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९०५।

वायुपुराण : सम्पादक राजेन्द्रलाल मित्र, कलकत्ता, १८८०।

वास्तुविद्या : सम्पादक गणपति शास्त्री, प्रकाशक गवर्नमेंट प्रेस, त्रिवेन्द्रम।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण : प्रकाशक खेमराज श्रीकृष्ण दास, बम्बई।

शिल्परत्न : सम्पादक गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम, १९२२।

समरांगणसूत्रधार : सम्पादक गणपति शास्त्री, प्रकाशक बड़ौदा १९२४।

२. विदेशी यात्रियों के विवरण तथा आधुनिक ग्रन्थ

अजन्ता, एलोरा ऐण्ड औरंगाबाद केव्ज : गुप्ते तथा महाजन, बम्बई, १९६२।

अल्बेरूनीज इण्डिया : साची पापुलर एडिशन, १९१४।

अमरावती स्कल्पचर्स : शिवराममूर्ति।

आइडियल्स आफ इंडियन आर्ट : हैवेल, लन्दन, ९१११।

आर्किटेक्चर आफ मानसार : पी० के० आचार्य, १९३४।

आर्ट ऐण्ड आर्किटेक्चर आफ इण्डिया : रोलैंड, सफोक, १९५४।

आर्ट आफ इण्डियन एशिया : हेनरी जिम्मर, टोरन्टो, १९५५।

आन वान् च्वांग : वाटर्स, १९०२।

इनवेजन आफ अलेक्जेंडर : मैक्क्रिण्डिल, प्रथम संस्करण, वेस्टमिंस्टर, १८९३।

इण्डियन आर्किटेक्चर (हिन्दू ऐण्ड बुधिस्ट): पर्सी ब्राउन, बम्बई, १९५६।

इण्डियन टेम्पल स्कल्पचर : ए० गोस्वामी, कलकत्ता, १९५९।

इण्डियन आर्किटेक्चर : अनन्तालयर तथा रे।

इण्डिया ऐज नोन टू पाणिनि : वासुदेवशरण अग्रवाल, लखनऊ, १९५०।

इण्डियन आर्ट : वासुदेवशरण अग्रवाल, वाराणसी, १९६५।

इण्डिया ऐज सीन इन दि बृहत्संहिता आफ वराहमिहिर : अजय मित्र शास्त्री, दिल्ली, १९६९।

इण्डस वैली सिविलिजेशन : मार्शल, लन्दन, १९५३।

इण्डस सिविलिजेशन : मार्टीमर ह्वीलर, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५३।

उत्तर प्रदेश में बौद्धधर्म का विकास : नलिनाक्षदत्त तथा कृष्णदत्त वाजपेयी, लखनऊ, १९५६।

एसेज़ ऑन आर्किटेक्चर आफ दि हिन्दूज़ : रामराज ।
ऐलोरा केव टेम्पल्स : बर्जेस, १८८२ ।
ऐंश्यंट ऐंड मेडीवल आर्किटेक्चर आफ इण्डिया : ई० बी० हैवेल, लन्दन, १९१५ ।
ऐंश्यंट इण्डिया : कॉडरिंग्टन, लन्दन, १९२६ ।
ऐन इनसाइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर : पी० के० आचार्य ।
केव टेम्पल्स आफ दि पल्लवज़ : के० आर० श्रीनिवासन्, दिल्ली, १९६४ ।
केव टेम्पल्स आफ इण्डिया : फर्गुसन तथा जे० बर्जेस ।
गुप्त टेंपल आर्किटेक्चर : पृथिवीकुमार अग्रवाल, वाराणसी, १९६८ ।
चालुक्यन आर्किटेक्चर : अलेक्ज़ेंडर री, पुनर्मुद्रित, काशी, १९७० ।
टाउन प्लानिंग इन ऐंश्यंट इण्डिया : बि० बि० दत्त, कलकत्ता, १९२५ ।
टाउन प्लानिंग इन ऐंश्यंट डेकन : वेंकटरामा अय्यर ।
ट्री ऐंड सरपेंट वर्शिप : जे० फरगुसन ।
डिक्शनरी आफ हिन्दू आर्किटेक्चर : प्र० कु० आचार्य, आक्सफोर्ड ।
दि जैन स्तूप ऐंड अदर ऐन्टीक्विटीज़ आफ मथुरा : वी० ए० स्मिथ ।
दि मानुमेंट्स आफ साँची, जिल्द २ : जे० मार्शल तथा ए० फूशे ।
पल्लव आर्किटेक्चर अलेक्ज़ेंडर री : पुनर्मुद्रित, काशी, १९७०
प्रासाद-निवेश : द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल, चण्डीगढ़, १९६८ ।
प्राचीन भारत का इतिहास : कृष्णदत्त वाजपेयी तथा विमलचन्द्र पाण्डेय, आगरा, १९६३ ।
प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन : उदय नारायण राय, इलाहाबाद, १९६५ ।
फाइव थाउज़ैंड इयर्स आफ पाकिस्तान : व्हीलर, लन्दन, १९५० ।
फाह्यान लेग्गी : आक्सफोर्ड, १८८६ ।
बुद्धिस्ट इण्डिया : रिज़ डेविड्स, कलकत्ता, १९५० ।
बुद्धिस्ट केव टेम्पल्स : बर्जेस, नवीन संस्करण, वाराणसी, १९६४ ।
बिगनिंग आफ बुद्धिस्ट आर्ट : ए० फूशे ।
भरहुत, जिल्द १, २ तथा ३ : बी० एम० बरुआ ।
भारतीय कला : वासुदेव शरण अग्रवाल, वाराणसी, १९६६ ।
भारतीय वास्तु-शास्त्र : द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल, लखनऊ, १९५५ ।
भिलसा टोप्स : कनिंघम ।

महाबोधि : कनिंघम, वाराणसी।
मेडीवल टेम्पल्स आफ दि डेकन : कजिन्स।
मेगस्थनीज ऐंड एरियन : मेक्रिंडिल, लन्दन, १८७७।
विश्वकर्मा : कुमारस्वामी, लन्दन, १९१४।
वैदिक इंडेक्स : मैकडॉनल तथा कीथ (द्वि० संस्करण)
सर्वे आफ इण्डियन स्कल्प्चर : एस० के० सरस्वती, कलकत्ता, १९५७।
सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस : दिनेशचन्द्र, सरकार : कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९४२।
साउथ इण्डियन बुद्धिस्ट ऐंटिक्विटीज : अलेक्जेंडर री, मद्रास, १८९४।
साउथ इंडिया ऐंड इट्स आर्किटेक्चर : मनोरमा जौहरी, वाराणसी, १९६८।
स्टडीज इन अर्ली बुद्धिस्ट आर्किटेक्चर आफ इण्डिया : एच० सरकार।
हिस्ट्री आफ इण्डियन ऐंड इंडोनेशियन आर्ट : आनन्द के० कुमारस्वामी, लंदन, १९२७।
हिस्ट्री आफ इण्डियन ऐंड ईस्टर्न आर्कीटेक्चर : फर्गुसन, लन्दन, १८७६।
हिस्ट्री आफ फाइन आर्ट इन इण्डिया ऐंड सीलोन : स्मिथ, आक्सफोर्ड, १९३०।
हिस्ट्री आफ साउथ इण्डिया : के० ए० नीलकंठ शास्त्री, आक्सफोर्ड, १९६६।
हिन्दू टेम्पल (२ जिल्दों में) स्टेला क्रैमरिश, कलकत्ता, १९४६।

३. पत्रिकाएं

आर्कियोलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट्स : ए० कनिंघम।
आर्टीबस एशियाइ।
इण्डियन आर्कियोलॉजी : ए रिव्यू
ईस्टर्न आर्ट।
ऐंश्यंट इण्डिया।
जर्नल आफ दि इण्डियन सोसायटी आफ ओरियंटल आर्ट।
जर्नल आफ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, लन्दन।
जर्नल आफ बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, पटना।
जर्नल आफ यू० पी० हिस्टारिकल सोसाइटी, लखनऊ।
मार्ग।
ललित कला।

शब्दानुक्रमणिका

म

ह

प्राचीन वास्तु शब्द-सूची

abacus	फलका
aisle	वीथी
ancone	कूर्पर/कमांचा/टोड़ा
ante-chamber	अग्रशाला/मुखशाला
ante-room	अग्रकक्ष
antes	उपकक्ष/उपशाला
apse	गजपृष्ठ
arcade	महराब श्रेणी/चाप श्रेणी
arch	चाप/महराब
arch, facade	मुखद्वार चाप
arch, flying	तिर्यक् चाप
arch, horse-shoe	नालाकार चाप
arch, strainer	भारवाही चाप
arch, receding	पश्चगामी चाप
arcuated	चापयुक्त/महराबदार
astragal=tondino	गोला/कुमुद, कलश
atrium	द्वार-प्रांगण/अलिन्द
balcony	छज्जा, प्राग्रीव
baluster	लघु स्तम्भ
balustrade	लघु स्तम्भ पंक्ति/वेदिका
barge-board	वलभी-प्रान्त
basement	अधिष्ठान
bastion	बुर्ज
bastion, hollow	अवतल बुर्ज (बुर्जी)
bastioned	बुर्जयुक्त
bat	इष्टकाखण्ड/अद्धा

batten door	काष्ठ पट्टिका द्वार
battlement	सछिद्र प्राकार
bay	चौकी
bay leaf garland	तेजपत्रालंकरण
bay window=bow window	प्रक्षेपित खिड़की/झरोखा/मोखा
bead and butt	मनके–कुंदे
bead, cock	उभरा मनका
bead and reel	मनका–नारी
beaded	मनका सज्जित
beak-head moulding	चञ्चु शीर्ष सज्जापट्टी
beam	धरण, धन्नी, शहतीर
beam and bracket	धन्नी तथा टोड़ा
bed moulding	प्रक्षेपतल सज्जापट्टी
bowstring truss	धनुषाकार कैंची
belfry	घण्टा-अट्ट/घण्टा-घर/वन-मचान
bell ornament	घंटिकालंकरण
bell-cot (bell cote)	घण्टा अट्टालिका
bell crank	घण्टा-कूर्पर
bell-gable	घण्टा-वलभी अट्टालिका
belt course=band course	मेखला
belvedere	बुर्ज/बारादरी
billet ornament	गुटकालंकरण
blind lane	अन्धवीथी/अन्धीगली
blind window	घन वातायन
blind door	घनद्वार
block in course (bond)	दर्वकाट चिनाई
bolection moulding	उभार सज्जा पट्टी/उद्भूत सज्जा पट्टी
bond	चिति/चिनाई
bond, English	अंग्रेजी चिनाई
bond, split	कटी चिनाई

bonnet	छादक, छज्जा
boss	उत्थ/ककुद-अलंकरण
bottom panel	निम्नफलक/निचला दिला
bottom rail	देहली पट्टी
bowstring roof	धनुषाकार छत
bowtell	उत्तल मज्जा पट्टी
box grave=cist grave	पेटिका शवाधान/ताबूती कब्र
box gutter	चौकोर नाली
bracket	टोड़ा
bracket cornice	कपोत/टोड़ा कार्निस
bracketed stairs	टोड़ा युक्त सोपान
breach	दरार
brick	ईंट
brick-nogging	ईंट-भराई
broach spire	अष्टास्र/अठपहलू शिखर
building block	भवन खण्डक/भवन इष्टका
building line	निर्माण-सीमा
bullion=bull's eye	गवाक्ष
butment	अन्त्याधार
butt	दस्ता/कुन्दा/हत्था; (२) कब्जा
caisson	जलतल-फलक
calyx	कर्णिका
camarin	शृंगारिकम्/सज्जागृह
camber beam	कुब्ज धरण/टेढ़ी शहतीर
capping	छादक
carrel	प्रकोष्ठ
casement	वलभि-वातायन
casement sash	वलभि वातायन-संभार
castle	कोट/गढ़ी
cavea	अर्द्धचन्द्र/रंगमण्डप

cavetto	वृत्तखण्ड/सज्जापट्टी
ceiling	वितान/भीतरी छत
chair rail	मत्तवारणी
cill=sill	देहली
cinquefoil	पंचदल
circle valley=swept valley	वर्तुल नालिका/गोल नाली
circular base	वृत्ताकार आधार/गोल आधार
citadel	गढ़ी/कोटला
clapboard	छज्जा
classic architecture	शास्त्रीय वास्तु
clearing hinge	चलता कब्जा
closer	मेलक इष्टका/मिलान ईंट
clustered column	गुच्छित या संघटित स्तम्भ
coarse stuff	वज्रलेप/दरेती
cob=morter	आच्छादन/समुद्र/गारा
cockle stairs=spiral stairs	चक्रिल सोपान/घुमाऊ सीढ़ी
coffer	अन्तःफलक
collar	कण्ठ
collar beam	कण्ठ धरणी
collar roof	कण्ठ-छद/कण्ठ-छत
colonnade	स्तम्भ-श्रेणी
colonnaded	स्तम्भ श्रेणिक
water pavalion	आराममण्डप
columned interspaces	स्तम्भ अन्तराल
compo=stucco	गच/चूना
composed order	संनियोजित स्तम्भशैली
composite order=compound order	मिश्र स्तम्भशैली
concentric rings	संकेन्द्र वलय
conge	अवतल सज्जापट्टी

convolution	संवलन
coping=coping stone	उष्णीष
cop=merlon	कपिशीर्षक
corbel	कदलिका
corbel stone	कदलिका प्रस्तर
corner post	कर्णस्तम्भ
corner=turret	कर्णकूट
counter batten	प्रतिपट्टिका
counter floor	प्रतिकुट्टिम
counter lathing	प्रतिवलन
counter sink	प्रतिगर्तन
coupled column	युग्म स्तम्भ
cover fillet=cover mould=cover strip	आवरण पट्टी
cowl-staff	भारदण्ड/विहंगिका/बहंगी
cradle roof	अर्ध-चन्द्र छत
cramp=clamp	प्रस्तर कील
crenel=crenelle	मोखा
cresting	शिखर सज्जा
crocket	पत्रालंकरण
cross vault	आड़ा गुम्बद
crowstep gable	काकपदी वलभी
crypt	भूमिगृह
curtail step	निम्नतम सोपान
curtain wall	बाह्य प्राकारक/परदी
curvilinear	वक्ररेखीय
curvilinear tower	रेखा शिखर
cushion capital	चषकाकार, स्तम्भ शीर्ष
cyma recta	पद्मसज्जा
cyma reversa	प्रतिपद्मसज्जा

dado	अधिष्ठानक/स्तम्भ पाद
dado rail	अधिष्ठानक पट्टी
dais	मंच
dancing steps	चक्रिल सोपान/घुमाऊ सीढ़ी
decking	भरत
demolition	समतलक
diagonal ribs	विकर्ण छत—डाट
die=dado	स्तम्भ पाद
dipteral	द्विपंक्ति स्तम्भों/दोहरे स्तम्भों वाला
disposition	विन्यास
distyle	द्विस्तम्भ
ditch	खाई/खात
dog-tooth ornament	दन्तावली-अलंकरण
dome	गुम्बद
dome, fretted	कटावदार गुम्बद
dome, hemispherical	अर्ध गोलाकार गुम्बद
dome, stilted	ऊर्ध्वगामी गुम्बद
door	द्वार
door-frame	चौखट
door jamb	द्वारशाखा/द्वारस्तम्भ
doorway	द्वार-मार्ग
dosseret	स्तम्भ शीर्ष—गुटका
double dome	दोहरा गुम्बद
dovetailing	समायोजन
dragon beam	व्यालमुख धरन
drawbridge	चलसेतु
dressing	प्रसाधक
dressed stone	प्रसाधित प्रस्तर
drop ornament	लटकन अलंकरण
drum-collar	ड्रम/गोलाधार

edge roll	कोर माला
enceinte	प्राकार/परकोटा
enrichment	अलंकरण
entersol	मध्यछती/परछत्ती
extrados	बहिश्चाप
eye	मोखा/झरोखा/गवाक्ष
facade	द्वारमुख
false work	कच्चा काम
feather edged board	क्षुराकारधार पट्ट
feathering	पल्लवांकन
fenestra	वातायन/मोखा
fielded panel	उभरा दिला/उद्धृत फलक
rolled panel	वेल्लित फलक
figured glass	चित्रित कांच
finishing coat	अन्तिम लेप
flagged courtyard	प्रस्तरित आंगन
flagging	प्रस्तरण
fleuron	पुष्पालंकरण
flier	सोपान-पद
flight	सोपान
flitched beam	संनियोजित धरणी
floreated	पुष्पालंकृत
flush bead	समतल मनका (मनकापट्टी)
fluted	नाली युक्त
flutings, cabled	रज्जुकाकार नालियां
flying buttress	अर्धचाप वप्र
flying shelf	प्रक्षेपित आला
foot block	पादांगमूल खण्ड
footings	नींव के पसर्क
footpace	पादपट्टी

fortified town	परकोटा वाला नगर/प्राचीर युक्त नगर
foundation storey	आधार तल
foyer	दालान
framed door	चौखटयुक्त द्वार
framed floor	काष्ठाच्छादित फर्श
framed roof	काष्ठाच्छादित छत
fret, symmetrical	समरूप जालक
fretted border	कटावदार हाशिया/जालकयुक्त प्रान्त
fringe, knotted	ग्रन्थित झल्लरी
frieze rail	मध्य पट्टी (द्वार)
frontispiece	द्वारमुख सज्जा
gable	वलभि
gable, corbie	सोपान युक्त वलभि
gablet	लघु वलभि/उद्गम
gallery	दीर्घिका/वीथी
gallery, embrasured	सरन्ध्र दीर्घिका
gargoyle	प्रणाल/परनाला (व्यालमुख)
garth	बाड़ा/बाटक
gateway	प्रवेशद्वार/तोरण
gauged arch	प्रमापित चाप
gazebo	धारागृह
going	आरोह/चढ़ाव
goniometre	कोणमापी/गुनिया
gorgerin	ग्रीवाल्लराल
grating=grille	जंगला
grave	समाधि/कब्र
gravel	बजरी
griffin=grypa	व्यालक/शार्दूल
groin	चापान्तर
groined vaulting	चापान्तरित मेहराब

groin rib	चापान्तर रेखा
ground level	भूमि तल
ground storey	तल भूमि
gusset	कोनिया/कोणिका
gutter bracket	नाली टोड़ा
half bat	अद्धा
half-timbered building	आधे काष्ठ भवन
hall	मण्डप
hall, audience	सभा मण्डप
hall, hypostyle	बहुस्तम्भी मण्डप
hall, main	मुख्य मण्डप
hall, tranwerse	आड़ा मण्डप/अनुप्रस्थ मण्डप
hall of private audience	दीवाने खास/गुह्य मण्डप
hall of public audience	दीवाने आम/आस्थान मण्डप
hand (of doors)	द्वारपक्ष
hand brick	हथगढ़ी ईंट
handrail=stair-rail	सोपान वेदिका
hanger	आलंब
hanging stile	आलंब पट्टी
harelip arch	नखदलाकार चाप
headers & streatchers	सिर तथा लम्बक
Hellenic	यूनानी
hollow bastion	खोखला गरगज
hollow wall	खोखली दीवार
hollow way	सुरंग
hood mould	चाप-छत्र
hopper light	अन्तर्वातायन/भीतर खुलने वाली खिड़की
housed joint	नलिका संधि
household shrine	गृह देवालय

hut circle	कुटीघेरा
impost	चापाधार
icon	प्रतिमा/मूर्ति
idol	देवमूर्ति
implement	उपकरण
indent	खाता
Indo-Islamic	हिन्द-इस्लामी
inhumation	शवाधान
intarsia	दारुपच्चीकारी
inlay	उत्खचन/पच्ची
intermediate rib	मध्यवर्ती शलाकाएँ/कमरखियाँ
inscribed	उत्कीर्ण
intertie	मध्य धरण
Ionic order	आयोनी शैली
intrados	अन्तश्चाप
inturned entrance	अन्तर्मुखी द्वार
jamb	द्वारपक्ष
jointless flooring	सन्धिरहित कुट्टिम/फर्श
joist	आधार धरण/तुला
keystone	बन्धन-प्रस्तर
keel arch	नौतल चाप
kiosk	छतरी
kiosk, pillared	स्तम्भ छतरी
knee	जानुबन्ध
kneeler	दिगन्तरक/वक्राधार
knee-shaft	कोणदण्ड
lap	पल्ला
larmier	कपोत
lath	पट्टी
latticed screen	झरोखा/जालक

lay panel	लहरिया दिला
lean to roof	एक ढाल छत/एक प्रवण छत
lime-stone	चूना-पत्थर
lintel	उत्तरंग/सिरदल
line-drawing	रेखांकन
liwan	सिकदा
lobe	खण्ड
lock-rail	ताला-पट्टी (द्वार की)
loggia	आच्छादित वीथिका
loop-hole	प्राचीर रन्ध्र
low relief=bas relief	निम्न उद्भृत
meeting rails	संयोजक पट्टी
megalith	महापाषाण
megalithic tomb	महापाषाण समाधि
merlon	कंगूरा/कपिशीर्षक
metropolitan area	महानगर क्षेत्र
middle rail	मध्य पट्टी
miniature	लघु/लघुरूप
minor shrine	लघु मन्दिर
mitred valley	द्वयग्र छत
modillion	मकबरा
mohammedan tomb	अलंकृत टोडा
monobloc	एक खण्ड
monument	स्मारक
monumental architecture	स्मारक वास्तु
motif	अभिप्राय
mould	साँचा
moulding=molding	सज्जापट्टी/ढलाई
moulding, bead	मणिका सज्जापट्टी
moulding, dancette	तरंग सज्जापट्टी

moulding, ovolo	उत्तल सज्जापट्टी
moulding, zig-zag	लहरिया सज्जापट्टी
mortice	छिद्र
mud brick	कच्ची ईंट
museum	संग्रहालय
nave	मध्यवीथी
nimbus	प्रभामण्डल
nook-shaft	कोण-स्तम्भ
nosing	नासा/नासाकरण
nulling	लहरिया
nymph	सुरसुन्दरी/अप्सरा
octagonal pavilion	अष्टाश्र मण्डप
ogive=ogee	सर्पिल
opus sectile	पाषाण पच्चीकारी
order (of pillars)	स्तम्भ-शैली
order, composed	सुविन्यस्त स्तम्भ-शैली
oriel window	झरोखा/गवाक्ष
ornamentation	अलंकरण
ornamental nich	अलंकृत देवकोष्ठ/अलंकृत आला
outline	रूपरेखा
outwork	बहिर्दुर्ग
oval	अण्डाकार
overdoor	द्वारशीर्ष
overhang	छज्जा/हर्म्य
overlapping=imposition	अति-छादन
ovolo	गोला
ovlet	मोखा
padstone	धरन-पाषाण
painting	चित्र/चित्रकला
painting, fresco	लेपचित्र

painting, mural	भित्तिचित्र
painting, rock	गुहाचित्र
painted palace	रंगमहल
pair of stairs	सीढ़ी/सोपान
palette	रंगपट्टिका
palisade	घेरा/काष्ठप्राचीर/कठहरा
palm vaulting	तालवृन्त छद/पंखाकार छत
panel	फलक/शिला/दिल्हा
palmette	तालचित्र
pantile	खपैल
parapet gutter	प्राकार नाली/मोरी
parvis=parvise	अहाता/फाटक/बाड़ा
pavement light	भूगृह-वातायन
patio	आँगन
pediment	उद्गम/त्रिकोण
pele tower	अन्तःकोट
pendant	लटकन/झुमा
periphery	परिधि
perpendicular style	लम्ब शैली
peripteral=peristylar	परिस्तम्भीय
peristyle	परिस्तम्भ
piazza	चौक, आच्छादित वीथी/प्रतोली
pictograph	चित्रलेख
picture rail	चित्रपट्टी
pier	पादाधार/मध्यपाद
pier arch	स्तम्भचाप
pilaster strip	कुड्यस्तम्भ-दण्ड
pillar	स्तम्भ/लाट
pinnacle	शिखर
pivot	विवर्तिनी/चूल

plan ground	तलविन्यास/तलच्छन्द
plan, elevation	ऊर्ध्वच्छन्द
plinth	कुर्सी
plinth block=foot block	पादांग/खण्ड
polychromatic	बहुरंगी
quadrangle	चतुरस्त्र चौक
porch=portico	मुखमण्डप/द्वारमण्डप
portal	द्वार तोरण
portal of entry	प्रवेश-द्वार
portcullis	जंगला
portico=porch	द्वार मण्डप
precast stone	ढला पत्थर
postern, spiked	कीलयुक्त द्वार
pre-history	प्रागितिहास
processional route	शोभायात्रा मार्ग
projection	प्रक्षेपण
projecting boss	प्रक्षेपित फुल्लक/उभरा बूटा
protohistory	आद्य इतिहास
pylon	गोपुर/सिंहपुर
quoin	कोण
rail=railing	वेदिका/वेष्टिका
railed parapet	वेष्टित प्राकार
railing pillar	वेदिका स्तम्भ
random rubble	अनगढ़ पत्थर-चिनाई
rampant arch	अंगी मेहराब/चाप
rampart	दुर्ग-प्राचीर/परकोटा
rear-arch	पश्चचाप
rear corner	पश्चकोण
reel and bead border	मरारी–गुरिया अलंकरण
refectory	मठभोजनशाला

relic casket	धातु मंजूषा
relief	उद्भृत
relief, bas	निम्न उद्भृत
relief, high	उच्च उद्भृत
relief sunk	गहरा उद्भृत
recessed arch	देहरी चाप
recessing	अन्तर्गत
remains	अवशेष
revolving platform	भ्रमित चत्वर
replica	प्रतिकृति
rib	नागशलाका
ceiling	वितान
ring building	गोल निर्माण
ring stone	वलय-प्रस्तर
ring-well	वलय कूप
ritual monument	बलि-स्मारक
rock-cut	शैलकृत/शिलाकृत
rock-edict	शिलालेख/शिलोत्कीर्ण धर्मादेश
rock-cut facade	शैल गृहमुख
rollmoulding=scroll moulding	गोला दैना/कुण्डलिनी सज्जापट्टी
roof	छत
roof, compass	अर्धवृत्त छत
roof, domical	गुम्बदी छत
roof, gabled	तिकोनी छत
roof, gambrel	बलभी छत
roof, low-pointed	अधोन्मुखी छत
roof, wagon	शकट छत
rosette	फुल्लिका
rotunda	गोलभवन
royal figure hall	देवकुल मण्डप

rubber	मुलायम ईंट/अभ्यजक
rubble	अनगढ़ पत्थर
ruins	भग्नावशेष/खण्डहर
run (of stairs)	आरोह
ridge	छद-पृष्ठ
sacrificial post	यूप/यज्ञस्तम्भ
sanctum	गर्भगृह
screen, arcaded	मेहराबदार परदा/चापजालक
sash	सन्धार/चौखटा
school	शैली
screen of arches	चाप-जालक
sculpturesque	मूर्ति-सादृश्य
sculptured art	मूर्तिकला
sepulchre	समाधि
semi-divine	अर्ध दैवी
septal stone	पटपाषाण
seraglio	अन्तःपुर
severy	मेहराब कक्ष
shaft tomb	गर्त तुम्ब
shrine	देवमन्दिर
side posts (jambs)	पार्श्व स्तम्भ
sill	गवाक्ष/देहली
side wall	पार्श्वभित्ति
sitting-out place	चबूतरा
soak pit	शोषक गर्त
souterrain	सुरंग
sky-line	व्योम रेखा
sloping outline	प्रवण रूपरेखा
sloping surface	प्रवणतल
sluice	जलकटपा

soffit	चाप-वितान
solid walling	घनभित्ति-निर्माण
spandrel	चाप स्फीति
spire	शिखर
staff bead	माणिक्य पट्टी /मनकापट्टी
stagger	अन्तरीकरण
stake	खूंटी/स्थूणी
stanchion	धातुदण्ड/धातु स्तम्भ
statuary	मूर्तिविषयक/मूर्ति-समूह
stele=stela	पट्ट/शिलापट्ट
stellate	ताराकृति
stencil	स्टैन्सिल/कटाव-साँचा
step	सोपान/अवरोहिण
stepped battlement	कंगूरा/आरोही कपिशीर्षक
stepped pyramid	आरोही पिरामिड
step-well	वापी/बावड़ी
stilted	अवस्तम्भी
stone dressing	संगदरेसी
stone-flagged (floor)	चौके का फर्श/शिलापट्ट कुट्टिम
stone grille	पत्थर का जंगला/पाषाण जालवेदिका
storage bin	धान्यकोठार
sculptor	मूर्तिकार/मूर्तितक्षक
stoup	तीर्थपात्र/सुरापात्र
streatcher course	लम्बक रद्दा
stress & strain	प्रतिबल तथा विकृति
string	सोपान-संधार
stucco	सुधा/गच
stylobate	स्तम्भाधार
subbase	उपपीठ
sub-structure	नींव/आधार

sunk arch — निमज्जित चाप
supercolum — उच्चालक
swan-neck — हंसग्रीवक
swag — बन्दनवार
swept valley — नरिया
symbol — प्रतीक
tablet — पट्ट
tablet, votive — संकल्प पट्ट
tablet of homage — आयाग पट्ट
taper — शुण्डाकार
tapering — शुण्डाकार प्रवण
tassel — झालर/झल्लरी
tectonics — निर्माण-विज्ञान
archi-tectonics — वास्तु-विज्ञान
temenos — मन्दिर-प्रांगण
tempera=distemper — समारंजन/डिस्टेम्पर
template — भराव पट्टी
terreplein — प्राकार पृष्ठतल
theatre — रंगभूमि/रंगशाला
thrust, lateral — पार्श्व प्रणोद
tierceron — बलवर्धनी शलाका
tiling — टाइल लगाना
timber-laced — दारु-वेष्टित
titanic — अतिकाय
tomb — समाधि, तुब/मकबरा
tomb-chamber — समाधिकक्ष
tondino — अर्ध गोला
tope — स्तूप
topia — भित्ति चित्रकला
topiary — उद्यान-प्रसाधन

top architrave	शीर्ष उत्तरंग
top rail	शीर्षपट्टी
torso	धड़/खण्डित स्तम्भ
torus	गोला
tower	प्राकार अट्ट/बुर्ज
tower of victory	जयस्तम्भ/कीर्तिस्तम्भ
town-gate	नगरद्वार
trabeate	धरणिक वास्तु
tracery	जालालंकरण/जाली
tracery, bar	शलाका-जाली
tracery, blind	अन्धी जाली
tracery, plate	पट्ट-जाली
transom=transome	उप-सिरदल
transom window	उपसिरदली-खिड़की
transverse rib	आड़ीशिरा/अनुप्रस्थशिरा
trefoil	त्रिदली
triforium	त्रिद्वारी/तिदरी
triple curve	त्रिवक्र
triple openings=triple gate-way	त्रिद्वारी/त्रिपोलिया
triple floor	त्रिपठित (काष्ठ) फर्श/कुट्टिम
tripolis	त्रिपुरी
triumphal column	जयस्तम्भ
truncated	खण्डित
tumulus	स्तूप
turret	कंगूरा/बुर्ज
turret, balconied	छज्जेदार कंगूरा
turret, domical	गुम्बदीय कंगूरा
twelve pillared	बारादरी
tymanum	तिकोना द्वारमाथा/त्रिकोण द्वारशीर्ष

underground cave	भूमिगत गुहा
valley	दरी
vandalism	कलाविध्वंस
vault=arched roof	महराबदार छत/चाप छत
vaulted tomb	महराबदार मकबरा
vestibule	अर्धमण्डप/अन्तराली/अलिवाना
volute	कुण्डलित
voussoirs	महराब फन्नी
wagon-head ceiling	शकटाकार वितान/अर्धगोल वितान
wagon-roof	अर्धगोल छत
wagon vault	अर्धगोल चाप
waist string	कटिसूत्र
wall of fort	परकोटा/प्राचीर
wall painting	भित्तिचित्र
wall-ribs	भित्तिशलाका
watergate	जलद्वार
water pavilion	जल-मण्डप
window, bay	अग्र-वातायन/झरोखा
window, bow	धनुषाकार खिड़की/धनुर्गवाक्ष
window, casement	चौखटेवाली खिड़की/चतुष्काष्ठ वातायन
window, circular	गोल खिड़की
window, oriel	झरोखा
window, rose	गोल खिड़की
window, sun	सूर्यमुखी वातायन
window, wheel	चक्र वातायन
working stone	प्रस्तरकर्म

फलक—1



लोमश ऋषि गुहा का प्रवेश-द्वार [बाराबर, गया]



रनि गुम्फा, उदयगिरि [उड़ीसा]

फलक—१



भाजा गुहा का अलंकृत द्वारमुख

फलक—४



कार्ले का गुहा-चैत्य तथा अलंकृत स्तंभ

फलक—५



नासिक के प्रमुख चैत्य का दृश्य

फलक—६



अमरावती का कलामंडित स्तूप

फलक—५



साँची का गुप्तकालीन मन्दिर

फलक—८



अजन्ता की शैलकृत गुहा

फलक—६



लक्ष्मण मन्दिर, सिरपुर (जि० रायपुर)



गुर्जरप्रतीहार-कालीन 'तेली का मन्दिर', ग्वालियर दुर्ग

फलक—११



सास-बहू मन्दिर, ग्वालियर

फलक—१२



माला देवी मन्दिर के अलंकृत स्तम्भ, ग्यारसपुर (जि० विदिशा)



बांधोगढ़, जिला शहडोल (मध्य प्रदेश) का मन्दिर

फलक—१४



पार्श्वनाथ मन्दिर, खजुराहो

फलक—१५



लक्ष्मण मन्दिर, खजुराहो

फलक—१६



परमारकालीन उदयेश्वर मन्दिर, उदयपुर (जि० विदिशा)

फलक—१७



राजारानी मन्दिर, भुवनेश्वर

फलक—१८



परशुरामेश्वर मन्दिर, भुवनेश्वर

फलक—१६



कोणार्क (उड़ीसा) का सूर्य-मन्दिर

फलक—२०



सूर्यनारायण मन्दिर, ओसियाँ (राजस्थान)



किराडू के शिव मन्दिर का मण्डप

फलक—२२



आबू के तेजपाल मन्दिर का भीतरी दृश्य।

फलक—२१



तेजपाल मन्दिर की अलंकृत भित्ति

फलक—२४



बादामी के मन्दिर का अंतर्भाग

फलक—२५



ऐहोलि का दुर्गा मन्दिर

फलक—२६



मल्लिकार्जुन मन्दिर, पट्टदकल



विरूपाक्ष मन्दिर, पट्टदकल



एलोरा का कैलास मन्दिर

फलक—२६



एलोरा के कैलास-मन्दिर में कायपरिमाण हाथियों की पंक्ति-सज्जा



त्रिमूर्ति गुहा, महाबलीपुरम्



गंगैकोंड-चोलपुरम् का बृहदीश्वर मन्दिर

फलक—३२

मदुरा के मन्दिर का मण्डप

